आधुनिक विज्ञान
और
अहिंसा

लेखक
गणेशमुनिजी शास्त्री
साहित्यरत्न
(सुशिष्य, प० प्रवर श्रद्धेय मन्त्री श्री पुष्कर मुनिजी)

सम्पादक
मुनि कान्तिसागरजी
सर्वोदयी संत नेमिचन्द्रजी



1962
आत्माराम एण्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली-6

ADHUNIK VIGYAN AUR AHINSA

(Modern Science and Non-Violence)

by

Ganeshmuniji Shastri

Rs 3 50

ल भण्डारी (मारवाड़)

अधिष्ठाता, जैन गुरुकुल, सादडी स्टेशन, राजस्थान

प्रकाशक

रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-6

शाखाएँ

हौज खास, नई दिल्ली
माई हीरा गेट, जालन्धर
चौडा रास्ता, जयपुर
बेगमपुल रोड, मेरठ
विश्वविद्यालय क्षेत्र, चण्डीगढ

मूल्य 3 50 रुपए

संस्करण प्रथम : 1962

मुद्रक
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
दिल्ली

सम्मति

प्रस्तुत कृति के लेखक साहित्यरत्न शास्त्री श्री गणेश मुनि जी महाराज हैं। दिनाक 31 8 1960 ई० को ब्यावर श्री सघ द्वारा मेरे श्रद्धेय गुरुवर्य डा० दौलतसिंह जी कोठारी, वैज्ञानिक सलाहकार भारत सरकार व अध्यक्ष विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सेवा में उनके अवलोकनार्थ प्रेषित की गई थी। मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ कि मेरे गुरुदेव ने मुझे इसे अवलोकन की आज्ञा प्रदान की। मैंने इसे आद्योपान्त पढ़कर अनुभव किया कि निःसन्देह आधुनिक विज्ञान और अहिंसा के लेखक मुनिराज की न केवल विज्ञान में रुचि ही है अपितु धर्म शास्त्रों के साथ साथ वैज्ञानिक साहित्य का भी सुन्दर अध्ययन है।

प्रस्तुत कृति भावी अहिंसा विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में उपयोगी सिद्ध होगी। श्री गणेश मुनि जी महाराज के विचार हमारे विश्व धर्म सम्मेलन के उत्प्रेरक मुनिश्री सुशीलकुमार जी महाराज के अनुरूप हैं।

मुझे पूर्ण आशा है कि गणेश मुनिजी और सुशीलकुमार जी महाराज सम्मिलित रूप से विश्व में धर्म और अहिंसा के आधार पर शान्ति स्थापनार्थ ऐसी ग्रन्थ कृतियों का सृजन कर सरस्वती का भण्डार भरेंगे।

भारत की राजधानी दिल्ली में निकट भविष्य में ही अहिंसा विश्वविद्यालय बनने जा रहा है, तदर्थ भारत सरकार ने पर्याप्त भूमि भी प्रदान कर दी है। लाखों रुपये दान द्वारा भी एकत्र किये जा रहे हैं। प्रश्न रह जाता है पाठ्य ग्रन्थों का सो मुझे इस कृति को देखकर आन्तरिक प्रमोद हुआ कि हमारे मुनिराजों का ध्यान भी इस महत्वपूर्ण विषय की ओर आकृष्ट हुआ है और साहित्य का निर्माण भी होने लगा है।

मुझे आशा ही नहीं पर पूर्ण विश्वास है कि "आधुनिक विज्ञान और अहिंसा" से प्रबुद्ध पाठक रसास्वादन कर श्रेयाभिमुख बनेंगे।

आभारी
डा० डी० बी० परिहार
M Sc, Ph D (Delhi), Ph D (Cantab)
Senior Scientific Officer
Government of India, New Delhi

चार शब्द

आज का युग विकास के मोड पर है। उन्नति और विकास की ध्वनियाँ चारों ओर से सुनाई पडती है। पर मानव यह नही सोच पा रहा है कि उन्नति किसकी और उसके उपाय क्या है ? क्योंकि जब तक योजना-बद्ध सुनियन्त्रित विकास पथ का अनुसरण न किया जाएगा तब तक उन्नति के शिखर पर चरण स्थापित नही किये जा सकते। आज बौद्धिक दक्षता और शोधन विधि के विकास तक ही उन्नति सीमित है और प्राकृतिक प्रसुप्त शक्तियो के अन्तर्रहस्यो को जानकर मानव-समाज को सुख, शान्ति और समृद्धि की ओर गतिमान करना ही विकास या मानवोन्नति समझी जाती है। विज्ञान इसी की परिणति है। पर यही हमारा साध्य नही है। जीवन के नित नूतन के प्रति आस्थावान रहते हुए भी स्थायी जगत के प्रति उसका केन्द्र विन्दु लक्षित होना चाहिए। भौतिक या अस्थायी जगत की क्रान्तिपूर्ण स्थिति आन्तरिक जगत को जहाँ तक आलोकित या प्रभावित करती है, वही तक इसकी उपयोगिता है। केवल दृश्य जगत की ओर अधिक नैष्ठिक जीवन और साम्पत्तिक विकास भविष्य के लिए क्या दृष्टि छोड जाता है, यह विचारणीय प्रश्न है। सुख-सुविधाओ की अभिवृद्धि और सामाजिक शान्ति विज्ञान द्वारा प्राथमिक रूप से अनुभव मे आने लगी, तब मानव आनन्द का अनुभव करता था। ज्यो-ज्यो वैज्ञानिक साधनों का प्राचुर्य अपनी चमत्कृति से विश्व को आश्चर्यान्वित करता रहा, त्यो-त्यों ससार इसके प्रति अधिक आकृष्ट हुआ जैसे अन्तिम लक्ष्य का यही एकमात्र स्वर्णिम या शाश्वत पथ हो। आगे चलकर विज्ञान की सर्वोच्च संहार शक्ति की भीषणता से मानवता कराह उठी और अनुभव किया जाने लगा कि सूचित उन्नति शक्ति पर अकुश की आवश्यकता है ताकि संहार शक्ति को सृजन की ओर मोडा जा सके। मानवता का इसी मे कल्याण है। विकास और उन्नति बडे सुन्दर शब्द है पर कभी-कभी निरंकुश गति से सकट का सामना भी करना पडता है। केवल भौतिक विकास भले ही

क्षणिक सुख सृष्टि कर उन्नति की आभा दिखला दे पर न तो वह स्थायी है और न चिर शान्ति का प्रतीक ही। चिराचरित साधना द्वारा प्राप्त वस्तु देश की ऐसी सम्पत्ति होनी चाहिए, जिसका विनिमय वृद्धि की ओर संकेत करता हो।

शक्ति के स्रोत को तब ही समुचित स्थान प्राप्त हो सकता है जब उसके वहन की क्षमता उस पृष्ठभूमि में विद्यमान हो। अत्यधिक शक्ति संचय उचित उपयोग के अभाव में सड़ांध पैदा कर देता है। विकास अवकाश चाहता है। मनुष्य ऐसा मानता है कि आज वह उन्नति और विकास की सर्वोच्च सीमा पर पहुँच गया है। हाँ, इसमें कोई शक नहीं कि पूर्वापेक्षया आज वह प्रकृति का दासत्व उतना स्वीकार नहीं करता जितना विगत शताब्दियों का मानव करता आया है। अपूर्णता केवल इतनी ही है कि आज बहिर्दृष्टिमूलक जीवन पद्धति के परिणामस्वरूप वह आध्यात्मिक जागरण के उज्ज्वल पथ को विस्मृत किये हुए है। उसका मानस ज्ञान-विज्ञान के प्रति बड़ा उदार है। वह प्रत्येक वस्तु को तर्क की कसौटी पर कसने का अभ्यस्त हो चुका है। पर विनम्र शब्दों में कहना चाहूँगा कि आचार विहीन ज्ञान सत्य के प्रति आगे बढ़ने में बाधा उपस्थित करता है। और न संसार की सभी वस्तुएँ तर्कगम्य हैं। सत्योपलब्धि के लिए गहन अनुभव, विचार, भाषा और सर्वोत्कृष्ट भाव शुद्धि अपेक्षित है और वह संस्कृतिनिष्ठ आध्यात्मिक परम्परा के विकास द्वारा ही सम्भव है जिसका मूल आधार अहिंसा है।

अहिंसा भारतीय संस्कृति का आत्मा है। वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन का शाश्वत विकास अहिंसा की सफल साधना पर ही अवलम्बित है। जिस प्रकार अहिंसा तत्त्व द्वारा आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का पोषण होता है उसी प्रकार जीवन का भौतिक क्षेत्र भी संतुलित रह सकता है। कहने की शायद ही आवश्यकता रहती है कि अब वह केवल आन्तरिक जगत के उन्नयन तक भी सीमित नहीं है अपितु राजनीतिक क्षेत्र तक में इसकी प्रतिष्ठा निर्विवाद प्रमाणित हो चुकी है। भयाक्रान्त मानव अहिंसा की ओर दृष्टि गड़ाए हुए है। विज्ञान के विकास का खूब अनुभव हो चुका है। अब वह पुनः लौटकर देखना चाहता है कि हम ऐसे तत्त्व की आवश्य

कता है जो मानवता मे जीवनी शक्ति का सिंचन कर सके, उसे प्रोत्साहित कर सके और मानव-मानव मे सत्ता और स्वार्थो को लेकर पनपने वाली सघर्ष परम्परा को सदा के लिए समाप्त कर आत्म-ज्योति का सर्वोन्नत पथ प्रदर्शित कर सके, तभी विश्व शान्ति का सृजन सम्भव है। सिद्धान्तत किसी भी तत्त्व को स्वीकार करने की अपेक्षा उसे जीवन के दैनिक व्यवहार मे लाना वांछनीय है। उन्नति और विकास का वास्तविक रहस्य तभी प्रगट हो सकता है जब तत्त्व जीवन मे साकार हो, और वही भावी परम्परा का रूप ले। सर्वोच्च निर्दोष और बलिष्ठ जीवन पद्धति मानव ही नही प्राणी-मात्र के प्रति समत्व मूलक जीवन की दिशा स्थिर कर सकती है। जीवन भी सचमुच आज एक जटिल समस्या के रूप मे खड़ा है। राजनीति और तर्क द्वारा इसे और भी विषम बनाया जा रहा है। और साथ ही आध्यात्मिक जागृति के पथ पर भी प्रहार किये जा रहे हैं. पर आश्चर्य तो इस बात का है कि उन्नतिमूलक आत्मिक तत्त्वसाधक तथ्यो को अन्तरग दृष्टि से देखने का प्रयत्न नही किया जा रहा है। ऐसी स्थिति मे सुरक्षित और शान्तिमय जीवन की स्थिति और भी गभीर हो जाती है। जीवन को जगत की दृष्टि से संतुलित बनाये रखने के लिए विकारो पर प्रहारो का स्वागत है, पर वे सस्कारमूलक होने चाहिए। मान लीजिये परिस्थितिजन्य वैषम्य के कारण आज हिंसा के नाम पर जो अहिंसा पनप रही है उसमे सशोधन अनिवार्य है।

सचमुच उत्कृष्ट तत्त्व को आचार पद्धति मे उतारने के लिए कुछ काठिन्य अनुभव होता है, पर असम्भव नही। जीवन मे अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए तत्त्व मनीषियो ने अपरिग्रहवाद की ओर सकेत दिया है। अनावश्यक और अनुचित सचय ही सघर्ष और हिंसा को प्रोत्साहन देते है। आज अधिक उत्पादन की ओर ससार जुटा हुआ है। दिनानुदिन आवश्यकताएँ इतनी बढ़ी जा रही है कि उनकी पूर्ति मे ही जीवन समाप्त हो जाता है। उपभोग के लिए भी अवकाश नही मिलता। जब कि व्यक्ति स्वातन्त्र्य मूलक और जनतान्त्रिक परम्परा का अनुगमन करने वाली श्रमणो की साधना ने यह सकेत दिया है कि यदि समाज और राष्ट्र मे शान्ति एव सन्तुलन की स्थापना करनी है तो व्यक्ति को ही सर्वप्रथम अपना आभ्यन्तरिक विकास करते हुए जीवन की आवश्यकताओ को कम करना होगा, ताकि अनावश्यक स्वार्थ-

लिप्सा और वासना विरुद्धक तत्वों को पनपने का अवसर ही न मिले। जीवन एक ऐसी वस्तु है कि उसे किसी भी ढाँचे में ढाला जा सकता है। अपरिग्रहवाद जनतन्त्र की बहुत बड़ी शक्ति है। सरल जीवन और उच्च आदर्श ही अहिंसा और अपरिग्रह का पोषण कर सकते हैं।

विज्ञान एक ऐसी दृष्टि है जिसमें मानव किसी भी वस्तु के प्रति चमत्कारपूर्ण दृष्टि नहीं रख सकता। अर्थात् तथ्यान्वेषण के प्रति वह बुद्धि पर बल देता है। वह ऐसा मापदण्ड बन गया है कि प्रत्येक वस्तु को इसी से नापा जाता रहा है। इसमें धर्म का भी अन्तर्भाव हो जाता है। वस्तुतः आज की परिभाषा के अनुसार विज्ञान और धर्म भले ही समीपवर्ती तत्त्व ज्ञात पड़ते हों, पर इनका भिन्नत्व भी उतना ही स्पष्ट है। या तो धर्म भी जीवन के प्रति व्यवस्थित विश्वासों की एक दृष्टि है जिसका सम्बन्ध आन्तरिक जगत् से है। वह आत्मिक वस्तु है। विज्ञान आत्मा जैसी वस्तु में तनिक भी विश्वास नहीं करता। वह तो केवल छः द्रव्यों में से केवल पौद्गलिक है। अदृश्य जगत की ओर विज्ञान की गति नहीं है। ऐसी स्थिति में विज्ञान और धर्म को एक नहीं माना जा सकता। हाँ, जहाँ तक दृष्टि साम्य का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक शोधन प्रक्रियामूलक दृष्टि से भी धर्म को देखा जा सकता है।

आज के वैज्ञानिक युग में शिक्षितों का धर्म के प्रति आकर्षण बहुत ही शिथिल हो चला है। वे इसे विज्ञान की ज्योति में देखना चाहते हैं। तत्त्वज्ञान को भी इसी कोटि में ला खड़ा किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तत्त्वज्ञान और विज्ञान का निकट का सम्बन्ध है। विज्ञान की जहाँ अन्तस्तल से देखने का प्रयत्न प्रारम्भ होता है वहीं अवस्था तत्त्वज्ञान में प्रवेश करती है। और तत्त्वज्ञान का जहाँ विशद व गम्भीर विचार किया जाता है, वहाँ विज्ञान का क्षेत्र स्वतः प्रारम्भ हो जाता है। भारत में तत्त्वज्ञान या विज्ञान को पृथक् रखने की प्रथा रही है जब कोई वह विशिष्ट बात हो।

धर्म के प्रति नवयुगवादी जागृत मानस के आस्थावान न होने का एक कारण यह भी है कि पिछले युग में धर्म की, आत्मा की तो गौण समझा गया और नाना प्रकार के बाह्य उपकरणों के अमित पोषण व परिवर्द्धन पर बल दिया गया जब मानो एकमात्र जीवन का साध्य हो। वहाँ साम्प्रदायिकता का

सृजन हुआ और धर्म जैसा मौलिक तत्त्व साम्प्रदायिक विकार के कारण तिमिराच्छन्न हो गया। वस्तुत धर्म जैसी पवित्र और व्यवहार शुद्धि सोपान स्वरूप वस्तु के प्रति किसी की अरुचि हो ही नहीं सकती, पर जब संस्कार के नाम पर विकारो का पोषण होता है वहाँ श्रद्धा जम नहीं सकती। धर्म के प्रति अनास्था का कारण वैज्ञानिक प्रगति न होकर उसके प्रति नव-मानस की आन्तरिक दृष्टि का न होना है। अनुभव तो और साधना की कमी के कारण ही वह विवाद की वस्तु बन गया है।

यदि धर्म को एक विशुद्ध और व्यवहारवादी दृष्टि के रूप मे स्वीकार कर लिया जाय और इसके आगे किसी भी प्रकार की विशिष्ट सज्ञा से इसे अभिशिप्त न किया जाय तो यह एक ऐसी आत्मोपम्यमूलक दृष्टि प्रदान करेगा कि प्रत्येक विचार को सहानुभूति और सहिष्णुता मूलक दृष्टि से दूसरो को समझने का पर्याप्त अवसर प्राप्त होगा, जिससे न वैयक्तिक मन-मुटावो की वृद्धि होगी न जन-जन मे वैर-विरोध और संतुलन विकृत होने की ही स्थिति का निर्माण होगा।

"आधुनिक विज्ञान और अहिंसा" के लेखक श्रीगणेश मुनिजी ने वर्तमान जीवन और जगत की विभीषिकाओ पर दृष्टि केन्द्रित करते हुए, विशिष्ट अनुभवो द्वारा जो प्रकाश डाला है वह विज्ञान और आध्यात्मिक सस्कृति मे रुचिशील पाठको के लिए नया मोड़ देने मे सहायता करेगा। विज्ञान जैसे महत्त्वपूर्ण विषय के साथ धर्म, अहिंसा और दर्शन का जो समन्वय प्रस्तुत कृति मे दृष्टिगोचर होता है, वह उनकी अनुभूति की एक किरण है। मेरा विश्वास है कि प्राथमिक विज्ञान के अभ्यासियो के लिए यह कृति मार्गदर्शन का काम देगी तथा धार्मिक क्षेत्र मे विज्ञान के प्रति जो अरुचि फैली हुई है, उसे दूर करने मे भी मार्गदर्शन कराती हुई मुनिश्री के प्रयास को साफल्य प्रदान करेगी।

77, भूपालपुरा, उदयपुर
दिनांक 9. 2 1962

—मुनि कान्तिसागर

अपनी बात

आज का युग विज्ञान प्रधान होने से विश्व इतिहास में नित नये महत्त्वपूर्ण अध्याय जुड़ते जा रहे हैं। विज्ञान द्वारा मानवीय सुख समृद्धि के पोषण में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई है। मध्यकाल में उच्च कोटि के शासक व श्रीसंपन्न नागरिक जिन सुखोत्पादक उपादानों की कल्पना तक नहीं करते थे, वे अद्यतन सामान्य नागरिक तक को सुलभ हैं। आवश्यकता से अधिक साधनों की संप्राप्ति कभी-कभी व्यक्ति को प्रमादी बना देती है तो कभी-कभी अल्प श्रम द्वारा अर्जित शक्ति विकराल रूप भी धारण कर लेती है। कामनावर्धक प्रत्येक वस्तु की अभिवृद्धि चाहे भले ही प्रारम्भिक काल में अनुकूल प्रतीत होने लगे पर जब वह सर्वोच्च विकास की चोटी पर पहुँचती है तो उसके परिणाम मनुष्य के लिए सुखद नहीं होते। जैसे विज्ञान को ही लें, इसकी प्रारम्भिक परिणतियों में मानव चमत्कृत हुआ पर इसके अकल्पित ध्वंसात्मक परिणामों से सिहर भी उठा। भय, आशंका और अविश्वास से आज विश्व का मानव आकुल है। वह चाह रहा है कि विज्ञान का प्रयोग निर्माण के रूप में हो। मानवीय सद्गुण और सहिष्णुता का युग अब करवट ले रहा है। भौतिकता की अपेक्षा अब आध्यात्मिक तत्त्व की ओर मनुष्य की सहज प्रेरणा गतिशील हो रही है। जो पश्चिमी राष्ट्र प्रत्यक्ष जगत को ही सब कुछ मानते आए थे, वे अब इतने ऊब गए हैं कि विवशतावश अब परोक्षीय जगत के प्रति आकृष्ट हो रहे हैं। खान-पान, रहन-सहन में भी आवश्यकताओं को सीमित कर रहे हैं। प्रत्येक वस्तु का औचित्य-अनौचित्य वस्तुपरक न होकर व्यक्तिपरक होता है, अर्थात् दृष्टिकोण पर अवलम्बित है। साधक-बाधक तत्त्व भी व्यक्ति की दृष्टि पर निर्भर है। विज्ञान भी इस दृष्टि से यदि मानव को समुन्नति के शिखर पर पहुँचाकर सुख, शान्ति, समृद्धि, सहिष्णुता और सह-अस्तित्व की ओर उत्प्रेरित करता है तो वह मानवता के लिए वरदान की परम्परा स्थापित कर सकेगा। यदि उत्पीड़न में इसका उपयोग किया गया तो इसके परिणामों के भुगतने या सोचने के लिए भी मानव मस्तिष्क

रहेगा या नहीं—यह प्रश्न है !

अहिंसा मानवीय व्यवस्थित जीवन पद्धति का आलोकपूर्ण पथ है। सर्वांगीण जीवन के सहअस्तित्व के आधार पर किए जाने वाले विकास को आलोकित करती है। मानव मे ऋजुता उत्पन्न कर समत्व की साधना की ओर सकेत कर प्राणी मात्र का सर्वोदय ही इसका मुख्य लक्ष्य है। विज्ञान पर भी अहिंसा का अकुश अव तो परिस्थितिजन्य विषम वातावरण को देखते हुए अनिवार्य-सा प्रतीत होने लगा है। पारस्परिक निर्वैरभाव जगत को अहिसा की साधना ही वल प्रदान कर मानव को मानव के नाते जीवित रहने की प्रेरणा देती है। सस्कृति और सभ्यता का वास्तविक विकास अहिंसा और विज्ञान के समन्वयात्मक सुख प्रयत्नो पर निर्भर है।

प्रस्तुत कृति मे यथामति विज्ञान की आवश्यकता, लाभालाभ और इस की सर्वोत्तम परिणति आदि विपयो पर सक्षेप मे प्रकाश डालने का प्रयत्न कर मानव काम्य तत्त्वो के प्रति ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। यह विज्ञान के सामान्य वोधगम्य तथ्यो का एक प्रकार से सकलन-सा है।

प्रस्तुत कृति के प्रथम प्रेरक सर्वोदयी सत श्री नेमीचन्द जी है, जिन्होने मुझे उत्साहित करते हुए सुझाया कि अहिसा के आलोक मे विज्ञान पर मैं कुछ लिखूँ। परिणाम आपके सम्मुख है। उन्होने इसके सपादन के लिए जो श्रम किया है, तदर्थ किन शब्दो मे कृतज्ञता व्यक्त करूँ।

जव 1960 का व्यावर का वर्षावास समाप्त कर उदयपुर पहुँचने पर मुनिश्री कातिसागर जी का समागम हुआ, प्रस्तुत कृति अवलोकनार्थ उन्हे दी गई। आपने इसकी उपयोगिता को देखकर भाषा विषयक आवश्यक सपादनार्थ सुझाव प्रेषित किये। मुझे भी जँचा कि सचमुच कुछ आवश्यक और भी परिवर्तन करने पर कृति मे निखार आ जायेगा। यह परम सौभाग्य है कि मुनिश्री ने इसके सपादन व आवश्यक परिवर्तन-परिवर्द्धन का दायित्व स्वीकार कर लिया, साथ ही चार शब्द भी लिखकर जो अनुग्रह किया है, वह शब्दातीत है।

सर्वप्रथम मैं सद्गुरुवर्य श्रद्धेय मत्री श्री पुष्कर मुनि जी महाराज के ति कृतज्ञता प्रकट करना चाहूँगा कि उन्ही की प्रवल प्रेरणा और दिशा

दर्शन द्वारा मैं कुछ हो सका। उन्हीं की कृपा के कारण उत्साहित होकर मैं लेखनी संभाल सका।

श्रमण संघ के उपाध्याय पं० प्रवर श्रद्धेय श्री हस्तीमल जी महाराज के चिन्तन और मनन भी मेरे लिए उचित पथ प्रदर्शक बने हैं। पूज्य सद्गुरु वर्य व उपाध्याय जी महाराज की अनुपमेय क्रियाशीलता को मैंने सदैव ही श्लाघ्य दृष्टि से देखा है।

अपने अभिन्न स्नेही साथी साहित्यरत्न और शास्त्री-पद विभूषित श्री देवेन्द्र मुनि महाराज के सौजन्य को इसलिए विस्मृत नहीं कर सकता कि उनकी प्रकृति अस्वस्थ्य रहने के बावजूद भी, मैं उनसे सतत सहयोग लेता रहा हूँ। पं० श्री हीरा मुनिजी महाराज व तपस्वी श्री चेतन मुनिजी महाराज के स्नेहास्पद व्यवहार तो स्मरणीय ही हैं।

जैन जगत के यशस्वी लेखक व वरिष्ठ सम्पादक पं० श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने इसे ध्यान से देखकर सत्परामर्श द्वारा सुन्दर बनाने में जो योग दिया है, वह हृदयपटल पर अंकित रहेगा। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक व विश्व विद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष डा० दौलतसिंह जी कोठारी, दिल्ली ने इस पर जो बहुमूल्य विचार व्यक्त किए हैं व मेरे उत्साह को बढ़ा रहे हैं। भारतीय शासन के मान्य विशिष्ट वैज्ञानिक डा० टी० बी० परिहार साहब की सम्मति के प्रतिस्वरूप मैं उनकी क्या प्रशंसा करूँ। सद्गुरु भक्त सम्माननीय वकील श्री रोशनलाल जी मेहता, गोगुन्दा निवासी व वागपुरा (मेवाड़) निवासी श्री टेकचन्द जी पोरवाड़ का सहयोग अवि स्मरणीय रहेगा जिन्होंने अमूल्य सहयोग देकर पाण्डुलिपि का मुद्रण कार्य बनाया।

अन्त में मैं उन सभी लेखकों व सहयोगियों का हृदय से आभार मानता हूँ, जिनका कि मैंने प्रस्तुत कृति में सहयोग लिया है।

मैं कामना करता हूँ कि मानवता के विकास में यह कृति कुछ भी पथ प्रसार हो सकी तो मैं अपना प्रयत्न सफल समझूँगा।

बसन्त पंचमी, —गणेशमुनि शास्त्री
गादड़ी (मारवाड़) 'साहित्यरत्न'
दिनांक 9-2-1962

कहाँ क्या है ?

सार्थक और समान जीवन की ओर उत्प्रेरित भी करती है। इन दोनो शक्तियो ने अपनी चमत्कृति द्वारा मानव समाज को खूब प्रभावित किया है। विज्ञान के अद्भुत रहस्यो से मानव जगत भलीभांति सुपरिचित है तो अहिंसा ने भी अपनी व्यक्तिस्वातन्त्र्यमूलक समत्व की मौलिक भावना का परिचय देकर मानव समाज को अनुप्राणित किया है। मानव जगत् के भौतिक क्षेत्र को विज्ञान ने इसलिए अधिक प्रभावित किया है कि सामाजिक जीवन-यापन की प्रक्रियाओ का सीधा सम्वन्ध इसी से है, क्योकि सामाजिक सगठन और अन्य आवश्यक शक्ति-स्रोतो को सुदृढ वनाये रखने के लिए विज्ञान अत्यन्त आवश्यक शक्तिपुज है। इसकी प्राप्ति के लिए मानव को कठिन साधनाओ का सामना करना पडा है। चिन्तन, मनन एव प्रयोगो द्वारा इसकी सार्थकता पर जहाँ गम्भीर गवेषणा विवक्षित रही है, वहाँ अहिंसा तत्त्व की उपलब्धि के लिए भी ऋषि-मुनियों को तपोमय जीवन व्यतीत करना पडा है। अहिंसा का सीधा सम्वन्ध आध्यात्मिक शक्ति अर्थात् आत्म-परक होकर भी उसका स्वरूप सामाजिक ही रहा है। भौतिक-प्राकृतिक शक्ति, जो पौद्गलिक शक्ति का ही एक अग है, पर आध्यात्मिक शक्ति का नियन्त्रण, सामाजिक शाति के लिए वनाये रखना आवश्यक है और यह अहिंसा की आध्यात्मिक शक्ति द्वारा ही सम्भव है। अहिंसा के सफल प्रयोगो द्वारा सहस्राब्दियो तक मानव समाज ने ही नही, अपितु, प्राणी-मात्र ने शान्ति और सन्तोष का अनुभव किया है। ये शक्तियाँ ही राष्ट्र की अनुपम सम्पत्ति है, जिनके सदुपयोग पर मानव समाज का वास्तविक गठन अवलम्बित है। अतीत इसका साक्षी है कि इनकी साधना मे मानव ने कभी सफलता और कभी विफलता ही प्राप्त की है।

दो

भारत की विशेषता

प्रत्येक राष्ट्र की एक ऐसी सांस्कृतिक मौलिक सम्पत्ति होती है, जिससे न केवल राष्ट्र निवासी ही, अपितु, परराष्ट्रीय समाज भी अनुप्राणित होता रहा है। भारतवर्ष की अपनी निजी विशेषता अध्यात्मशक्ति की मौलिकता पर अवलम्बित रही है। भारतीय चिंतन का केन्द्र बिन्दु अहिंसा—अध्यात्म रहा है। संस्कृति इस महान् शाश्वत तथ्य से आवृत है। साहजिक वृत्ति और दृष्टि अध्यात्म से ओत प्रोत रही है। यही कारण है कि भारत शताब्दियों तक विभिन्न जातियों के सांस्कृतिक आक्रमण के बावजूद भी अपना मौलिक व्यक्तित्व सुरक्षित रखने में समर्थ रहा है। आत्मपरक सिद्धान्त ही किसी भी राष्ट्र की नींव है। यहाँ प्रसंगत स्पष्ट कर देना आवश्यक जान पड़ता है कि भारतीय चिंतन का स्वर अत्यधिक आत्मलक्षीय रहने का यह तात्पर्य नहीं है कि वह प्राकृतिक—भौतिक—जगत के प्रति पूर्णतः उपेक्षित रहा। अतीत के आलोक से स्पष्ट है कि भारतीय मनीषियों ने जितना श्रम और शक्ति का व्यय आत्मपरक गवेषणा में लगाया है उतना ही भौतिक शक्ति की विभिन्न शाखाओं के अनुशीलन में भी।

आत्मलक्षीय संस्कृति के प्रति यहाँ के सन्त महन्त और तीर्थङ्करों का झुकाव इसलिए विशेष रहा है कि केवल भौतिक शक्ति की उपासना या प्राप्ति ही मानव का चरम साध्य न रहकर, एक मात्र साधन रहा है। साध्य की प्राप्ति तो अन्तर्मुखी चित्त वृत्ति के विकास द्वारा ही सम्भव है, जो अहिंसा का सक्रिय साधना द्वारा प्राप्य है। दार्शनिक चिन्तकों ने भौतिक शक्ति को वश में करना ही मानव की अन्तिम विजय नहीं माना। बाह्य शक्ति का एकीकरण या विकास भले ही राष्ट्र और समाज में क्षणिक सुख शान्ति का प्रसार कर सके पर वह स्थायी शान्ति का जनक नहीं हो सकता। शाश्वत शान्ति का गम्भीर सन्देश वीतराग वाणी में इस प्रकार प्रतिध्वनित हुआ है—

का सक्रिय अग बनाने मे है। जो प्राणी या जाति सुन्दर, प्रेरक और उपादेय विचारकणो को स्वजीवन मे प्रतिष्ठित नही करती, वह न तो उन्नति के शिखर पर पहुँच सकती है और न ससम्मान जीवित रह सकती है, और न भविष्य के लिए उत्क्रान्तिपूर्ण विकास परम्परा ही छोड जाती है। इतिहास इस वात का साक्षी रहा है कि मानव ने अपनी शक्ति के वल पर सदैव यह चेष्टा की है कि पौद्गलिक शक्ति एकान्तरूपेण उस पर अपना अधिकार कही स्थापित न कर ले। मानवेतर प्राणियो के समान भौतिक शक्ति के वशवर्ती कभी नही रहा। हाँ, भौतिक वैभव वृद्ध्यर्थ अधिक-से-अधिक श्रम कर सुख के साधन एकत्र करने मे आशातीत सफलता प्राप्त्यर्थ अवश्य ही प्रयत्नशील रहा व आशिक रूप मे कृतकार्य भी हुआ। आज मानव पौद्गलिक शक्ति की चरम सीमा पर पहुँचने के लिए आशान्वित है।

मानव स्वीकृत सुख आधिभौतिक था। आधुनिक विज्ञान को भी सुखान्वेषण वृत्ति का ही परिणाम, कुछ अंशो मे मान लिया जाय तो अत्युक्ति न होगी। आज की अपेक्षा अतीत के मानव की सुख की परिभाषा भिन्न थी। उसका रहन-सहन, रीति-नीति और जीवन-यापन का ढग सापेक्षत सर्वथा था। ज्यो-ज्यो जिज्ञासु वुद्धि के प्रकाश मे मानव ने विकास के लिए चिन्तन भिन्न को विस्तृत किया त्यो-त्यो उसकी लौकिक भावना गतिमान होती गई। अर्वाचीन और अतीत के मानवो की चिन्तन-धारा मे वहुत वड़ा अन्तर रहा है। समाजशास्त्र का यह अकाट्य नियम रहा है कि विकास-मात्र युगानुकूल साधन और परिस्थितियो पर निर्भर रहता है।

यहाँ एक वात का स्पष्टीकरण आवश्यक जान पडता है कि पशुओ मे परिवर्तन की वृत्ति का अभाव होता है। वह जैसा अतीत मे था वैसा आज भी है। उदाहरणार्थ उसकी माँद मे अन्य पशु के प्रविष्ट हो जाने पर उसे समझा-वुझाकर विदा करने का ढग पशु के समाज मे नही है, वल्कि इसके विपरीत घुर्राना, झपटना, नोचना, शृगो से प्रहार करना, लाते मारना और घुरकना आदि प्रवृत्तियो द्वारा रक्षा की जाती रही है। तात्पर्य यह कि पशु प्रकृति प्रदत्त सुख-सुविधाओ तक ही अपने को सीमित रखता है जव कि मानव केवल प्रकृति के आसरे न रहकर सतत् चिन्तन और श्रम द्वारा जीवन-रक्षा के नित नये साधनो का आविष्कार कर रहा है।

तीन

विज्ञान क्यो और कैसे

मानव की सुखान्वेषण वृत्ति का परिणाम ही विज्ञान है। इसके आविष्कार न नूतनत्व के कारण मनुष्य को भूल-भुलैया में डाल दिया है। यह यह सोचने की स्थिति म नही है कि वास्तविक सुख कहाँ और किसमे है ? क्योंकि अतीत म उन दिनो के विज्ञान की परिभाषा के अनुसार जो वैज्ञानिक आविष्कार होते थे उनका उपभोग आज के समान जन साधारण न कर पाता था, जब कि आज एक वैज्ञानिक की साधना के परिणाम से विश्व के मानव न केवल प्रभावित ही होते हैं, अपितु, उससे लाभान्वित होकर दैनिक जीवन की समुचित आवश्यकताओं की पूर्ति भी सरलतापूर्वक कर सकते हैं। आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने 'विज्ञान कामणे ज्ञाने।' सक्रिय ज्ञान (Practical Knowledge) को ही विज्ञान कहा है।

जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य को प्रत्यक्ष कार्य करते हुए नपुण्य प्राप्त हो, वही विज्ञान है। भौतिक विज्ञान की दृष्टि मे अंतिम तथ्य के रूप मे माना जाने वाला प्रत्यक्ष दार्शनिक प्रत्यक्ष से भिन्न होता है, अर्थात् पौद्गलिक शक्ति और उसके पर्यायो का पूर्ण ज्ञान तब तक सम्भव नही है जब तक कि मनुष्य ज्ञान की समस्त शाखाओं के प्रकाश को प्राप्त नही कर लेता है। वैज्ञानिक प्रत्यक्ष सीमित है और ज्ञान प्रभा से आलोकित प्रत्यक्ष असीमित है। ज्ञान अनन्त मे से एक की ओर से जाता है तो विज्ञान एक मे से अनन्त की ओर। ज्ञान आध्यात्मिक अहिंसामूलक शक्ति का प्रतिनिधि है तो विज्ञान भौतिक शक्ति का प्रतीक है। आध्यात्मिक जीवन विकास के लिए ज्ञान की नितान्त आवश्यकता है तो भौतिक सुख-समृद्धि और वैभव की प्राप्ति के लिए विज्ञान उपादेय है।

विज्ञान क्या है ?

मानव जीवन सत्यान्वेषण की एक बहुत बड़ी प्रयोगशाला है। इसके

है। जैन वैज्ञानिक पुद्गल के विभिन्न पर्यायो का सूक्ष्म और गम्भीर विवेचन करते हुए अणु तक पहुँचे है। पुद्गल की अनन्त शक्ति का भी विश्लेषण जैन साहित्य मे वर्णित है। पर जहाँ तक वैज्ञानिक अनुशीलन का प्रश्न है इसे किसी धर्म, सम्प्रदाय या देश की सकीर्ण सीमाओ मे नही बाँधा जा सकता। वह तो मानवमात्र की अनुभूति की अभिव्यक्ति है।

प्राचीन भारतीय साहित्य पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट विदित होता है कि विश्व स्वरूप को जानने के लिए नाना प्रकार के प्रश्न और समाधान ऋग्वेद व उपनिषद् काल से लगा कर आज तक होते आये है। ऋग्वेद मे उल्लिखित दीर्घतमा ऋषि को यह शका हुई कि विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई ? इसे कौन जानता है ? क्या इसका पता लगना सम्भव है ? वही आगे कहता है, मै तो इस रहस्य से परिचित नही हूँ। पर इतस्ततः भ्रमण से ज्ञात हुआ कि वाणी द्वारा सत्य के दर्शन होते है। सत्य एक है किन्तु उसके वर्णन के प्रकार अनेक है। एक ही सत्य के वाणी द्वारा सैकडो प्रयोग देखे जाते है। इस ऋषि के द्वारा तात्कालिक सम्पूर्ण मानवीय जिज्ञासुवृत्ति के दर्शन होते है। नासदीय सूक्त के ऋषि भी जगत की गम्भीर गवेषणा करते हुए सत्य और असत्य की चर्चा करते है। यद्यपि इनके व्यक्तिकरण मे पर्याप्त मतभिन्नता दृष्टिगोचर होती है, किन्तु जिज्ञासा सभी की वही है।

पाँच

दर्शन का स्वरूप और प्रयोजन

दर्शन मानव मस्तिष्क की बौद्धिक उपलब्धि है। प्रश्न है दर्शन की समस्या और प्रयोजन क्या है? इस सम्बन्ध में प्रत्येक पारम्परिक विचारकों में मत भिन्नता है। एक ही देश के दार्शनिक दर्शन के प्रति एकमत नहीं हैं। ऐसी स्थिति में जीवन और जगत के प्रति दृष्टिकोण में ही जहाँ अंतर है वहाँ विभिन्न मतभेदों का होना आश्चर्य की बात नहीं। पूर्व और पश्चिम के विभिन्न दार्शनिकों में पर्याप्त मत वभिन्न्य दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि विश्व की दार्शनिक चिन्तन प्रणाली का विश्लेषण यहाँ विवक्षित नहीं, तो भी केवल स्थूल रूप से उल्लेख मात्र पर्याप्त होगा।

यूरोपीय दर्शन का उद्देश्य और उसकी एक मात्र समस्या विश्व व्याख्या करने की है अर्थात विश्व के सभी विभिन्न अर्वाचीन दार्शनिक इसी तथ्य को लेकर चले हैं। यद्यपि यूरोपीय मध्ययुगीन दर्शन में भिन्नता अवश्य है।

यूनान ज्ञान-साधकों की व उच्चतम विचारकों की शताब्दियों से साधना स्थली के रूप में विख्यात रहा है। थैलीज एनग्जीमेण्डर, हैराक्लाईटस और ऐनक्जिमिनीज आदि का मंतव्य रहा है कि दृश्यमान जगत की विभिन्न व्यक्तियों का उद्भव कैसे सम्भव हो। डिमाक्राइटस जीव और जगत की व्याख्या के प्रति शायद इसलिए आकर्षित नहीं हैं कि उन्हें इसका ज्ञान ही न था। सौफिस्ट शिक्षक मानववाद में ही दर्शन को उलझाकर मनुष्य के सामाजिक व नैतिक विन्यासों का बौद्धिक मण्डन कर सके। तत्वमीमांसा का क्षेत्र समस्त विश्व है, पर यूरोपीय दर्शन में आत्मा और परमात्मा के प्रति जिज्ञासा जगी कोई वस्तु नहीं है। या तो अद्यतन यूरोपीय दर्शन के आधार-स्तम्भ डेकार्ट आत्मा से ही अपने चिन्तन का आरम्भ करते हैं, पर दर्शन की दृष्टि से वह स्वयं सिद्धान्त लेकर चले हैं। वहाँ आत्म सिद्धि, ईश्वर सिद्धि द्वार या उपकरण मात्र है। तात्पर्य यूरोपीय दार्शनिक बाह्य जगत तक ही चिंतन

तर्क को वास्तविकता की कसौटी पर कसकर उसका समीचीन समाधान भी करता है। जगत् के मूल मे कौन-सा तत्त्व काम करता है ? जीवन का उस तत्त्व के साथ क्या सम्बन्ध है ? आध्यात्मिक और भौतिक तत्त्वो की सत्ता मे क्या अन्तर है ? जीव और शीव के बीच कौन-सा तत्त्व बाधक है ? वह उनसे भिन्न कैसे हो सकता है ? ज्ञान और बाह्य पदार्थों के बीच क्या सम्बन्ध हो सकता है ? हेय, ज्ञेय और उपादेय का सम्यक् विश्लेषण करना आदि तात्त्विक विषयों की खोज ही दर्शन का प्रमुख समुद्देश्य है। दर्शन भौतिक विज्ञान की भाँति वस्तु या पदार्थ का विश्लेषण ही नही करता, किन्तु उसकी उपयोगिता पर भी विचार करता है। वह जीवन और जगत् की वास्तविकता, अवास्तविकता का भी पूर्ण परिचय कराता है। इस प्रकार दर्शन का स्वरूप दर्शाने के पश्चात् दर्शन का उद्गम स्थल कौन-सा है, और क्या हो सकता है, इस पर विभिन्न परम्पराओ का दृष्टिकोण प्रकाश मे लाना आवश्यक हो जाता है।

दर्शन का उद्गम स्थल

मानव चिन्तनशील प्राणी है। चिन्तन मानव का आदि स्वभाव है। वह प्रत्येक वस्तु पर चिन्तन-मनन करता है। जहाँ से मानव चिन्तन-मनन प्रारम्भ करता है, वही से दर्शन प्रारम्भ हो जाता है। इस सिद्धान्तानुसार दर्शन उतना ही पुरातन है जितना कि मानव स्वय। फिर भी दर्शन की उद्भूति के सम्बन्ध मे दार्शनिक विद्वानों के विभिन्न दृष्टिकोण रहे हैं। जिनको जैसी परिस्थिति तथा वातावरण प्राप्त होता रहा, उसके अनुरूप दर्शन उद्भूत चिन्तन की अनुभूति होती रही है। किसी ने तर्क को प्रधानता दी, किसी ने बाह्य जगत् को, किसी ने आत्म तत्त्व को तो किसी ने सन्देह और आश्चर्य को। इन सब दृष्टिकोणो के अतिरिक्त इसमे कुछ और भी बाह्य परिस्थितियाँ कार्य करती हुई दिखलाई पडती है।

तर्क—कुछ दार्शनिको का यह अभिमत है कि दर्शन का उद्गम स्थल तर्क है। 'कि तत्त्वम्' इस तर्क से ही दर्शन का आविर्भाव होता है। दर्शन युग के प्रसव से पूर्व श्रद्धा युग था। श्रद्धा युग मे आप्त पुरुषो की वाणी को अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से मानते थे। क्योकि मानवों के मस्तिष्क मे यह कल्पना होती थी कि यह जो कहा जा रहा है वह हमारे परम आराध्य देव के श्रीमुख से उच्च-

रित है, अतः वह बिना किसी संकोच के उसे स्वीकार कर लेता है। यह वाणी महावीर की है, यह उपदेश बुद्ध का दिया हुआ है, यह शिक्षा मनु की दी हुई है, इस प्रकार जिस व्यक्ति की श्रद्धा जिसके प्रति होती थी, उस पुरुष के वचन उसके लिए शास्त्र रूप बन जाते हैं। युग परिवर्तनशील है। इस दृष्टि से युग ने करवट बदली, मानव मस्तिष्क की उर्वरा भूमि से श्रद्धा के स्थान पर तर्क के अंकुर प्रस्फुटित होने लगे। मनुष्य के विचारों का मंथन चला और तर्क ने अपना बल पकड़ लिया। यह उस पुरुष ने कहा है, इसलिए हम सत्य मानें, ऐसा क्या? सत्य का मानदण्ड तर्क, युक्ति और प्रमाण होना चाहिए। बस यहीं से दर्शन का उद्गम होता है।

आश्चर्य—प्रतिभासम्पन्न पाश्चात्य दार्शनिक 'प्लेटो' आदि का यह मन्तव्य है कि दर्शन की उद्भूति आश्चर्य से हुई है। जब मानव प्रारम्भ में किसी अद्भुत वस्तु का प्रत्यक्षीकरण करता है तो सहसा उसके हृदय में आश्चर्य उत्पन्न होता है, और यह होना भी स्वाभाविक है। उस आश्चर्य को शान्त करने के लिए उसकी जिज्ञासा, चिंतन और कल्पना आगे बढ़ती है। क्रमशः धीरे धीरे यही जिज्ञासा, चिन्तन और कल्पना दर्शन के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

संदेह—इसी प्रकार कुछ दार्शनिकों का विश्वास है कि दर्शन की उद्भूति आश्चर्य से नहीं किन्तु सन्देह से हुई है। जब मानव को स्वयं के विषय में अथवा इस भौतिक जगत् की सत्ता के सम्बन्ध में सन्देह समुत्पन्न होता है, उस समय उसकी विचारधारा जिस मार्ग का अनुसरण करती है, वही मार्ग दर्शन का रूप धारण करता है। प्रसिद्ध विद्वान् डेकार्ट आदि का अभिमत भी इसी प्रकार का है।

बुद्धि प्रेम—बहुत से दार्शनिक दर्शन की उद्भूति का आधार बुद्धि प्रेम से मानते हैं। इन्सान अपनी बुद्धि से बहुत स्नेह करता है, वह उसे विकसित देखना चाहता है। बुद्धि प्रेम की अभिव्यक्ति ही दर्शन के रूप में प्रकट होना है। इस धारणानुसार दर्शन का अन्य कोई प्रयोजन नहीं, केवल बुद्धि का ही शुद्ध विलास है। यहाँ जिस बुद्धि का प्रयोग हुआ है उसे सामान्य विचार-शक्ति न समझकर विवेक युक्त बुद्धि समझना उपयुक्त होगा।

आध्यात्मिकता—कुछ दार्शनिक ऐसे भी हैं जो दर्शन की उद्भूति मानव

मे रही हुई आध्यात्मिक शक्ति की प्रेरणा मानते है। जब मनुष्य को बाह्य-भौतिक पदार्थ मे शान्ति का अनुभव नही होता है, तब वह 'चिर शान्ति' की खोज करने लगता है। आध्यात्मिक पिपासा पूर्त्यर्थ नवीन मार्ग का अनुगमन करता है। मानव के इस प्रयत्न को ही दर्शन का नाम दिया गया है। आध्यात्मिक प्रेरणा का प्रमुख आधार है वर्तमान से असतोप और भविष्य की उज्ज्वलता का दर्शन। यही भारतीय परम्परा मे दर्शन की आधार भूमि रही है। आध्यात्मिक प्रेरणा से जिस दर्शन की उद्भूति होती है, वह दर्शन उच्चकोटि का समझा जाता है। कुछ दार्शनिक व्यावहारिकता से भी दर्शन उद्भूति का सम्बन्ध लागू करते है।

इस प्रकार पाश्चात्य दार्शनिको की दृष्टि मे तर्क, सशय, आश्चर्य आदि दर्शन के प्रादुर्भाव के कारण माने गए है। पर पौर्वात्य दार्शनिको की दृष्टि से दुख ही दर्शन-उत्पत्ति का प्रधान कारण है। दुख से मुक्ति पाना यही भारतीय दर्शनशास्त्र का मुख्य ध्येय है।

भारतीय संस्कृति में दर्शनों का स्वरूप

प्रतापपूर्ण प्रतिभा सम्पन्न आचार्य हरिभद्र ने अपने 'षड्दर्शन समुच्चय' में भारतवर्ष में प्रचलित प्रधान दर्शनों का विवेचन प्रस्तुत किया है। उसमें सर्वप्रथम बौद्ध-दर्शन का उल्लेख है।

बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन के प्रणेता महात्मा बुद्ध हैं। इस दर्शन में मुख्य चार तत्त्व हैं, जिन्हें वे आर्य सत्य के नाम से सम्बोधित करते हैं (1) दुःख, (2) समुदय, (3) मार्ग और (4) निरोध। प्रथम आर्य सत्य दुःख है। बौद्ध-दर्शन का प्रमुख उद्देश्य इस दुःख से मुक्त होना है। संसारावस्था के पाँच स्कन्ध हैं और ये ही दुःख के प्रमुख कारण हैं। ये पाँच स्कन्ध इस प्रकार हैं—विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप।[1] जब ये पाँचों स्कन्ध समाप्त हो जाते हैं, तब दुःख स्वतः समाप्त हो जाता है। दूसरा आर्य सत्य है समुदय। इसका तात्पर्य है आत्मा में राग-द्वेष की भावना उत्पन्न होना। इस विराट विश्व में यह मेरा है यह तेरा है। यह जो राग द्वेषमय भावों की अभिव्यञ्जना है, यही समुदय है।[2] तृतीय आर्य सत्य है मार्ग। मार्ग का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि संसार में जितने भी घट, पट आदि पदार्थ हैं, वे सभी क्षणिक हैं। जो प्रथम क्षण में थे वे द्वितीय क्षण में नहीं हैं, किन्तु मिथ्या-वासना के कारण यह वही है ऐसा आभास होने लगता है। इसके विपरीत समस्त पदार्थ

---

1 दुःखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च॥

2 समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः।
आत्मात्मीयस्वभावाख्यः स स्यात् समुदयः पुनः॥

—बौद्ध दर्शन, षड्दर्शन समुच्चय।

क्षणिक हैं, ऐसा संस्कार उत्पन्न हो जाना मार्ग है।[1] चतुर्थ आर्य सत्य निरोध है। सर्व प्रकार के दुःखो से मुक्ति मिलने का नाम ही निरोध है।

इस प्रकार बौद्ध-दर्शन का मूलाधार दुःख ही है। संसारी जीव का स्कन्ध रूप दु.ख से पृथक् करना, यही बौद्ध-दर्शन के आविर्भाव का समुद्देश्य है।

न्याय दर्शन

न्याय दर्शन के संस्थापक अक्षपाद ऋषि थे। इस दर्शन के आराधक देव महेश्वर है जो सृष्टि के उत्पादक, रक्षक और संहारक है। वह विभु, नित्य तथा सर्वज्ञ है, जिनकी प्रेरणा से ही समस्त सृष्टि का संकलन, आकलन होता है।

न्याय दर्शन ने सोलह तत्त्व माने है। प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह और स्थान। जब इन सोलह तत्त्वो का परिज्ञान जीव को होता है, तब उसके दु ख और कारणो की परम्परा समाप्त होती है। इस प्रकार दु.ख की निवृत्ति और मोक्ष-अपवर्ग की प्राप्ति हेतु ही प्रस्तुत दर्शन का प्रादुर्भाव होता है।

सांख्य दर्शन

साख्य दर्शन का प्रयोजन भी दु.ख निवृत्ति है। इसके मुख्य दो भेद हैं। एक ईश्वरवादी और दूसरा निरीश्वरवादी। जो ईश्वरवादी है वे सृष्टि की उत्पत्ति ईश्वर से मानते है, और जो निरीश्वरवादी है, वे सृष्टि के निर्माण मे ईश्वर का हस्तक्षेप स्वीकार नही करते। सांख्य दर्शन के विचारानुसार दु.ख की तीन राशियाँ है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। शारीरिक और मानसिक ये दु ख आध्यात्मिक कहलाते है तथा राक्षस आदि के आवेश से जो दु ख होते है वे आधिदैविक दु ख है और अन्य स्थावर तथा जगम आदि प्राणियों से जो दु ख उत्पन्न होते है वे आधिभौतिक दु ख कहलाते है। इन दु खो का नाश वाह्य साधन व उपायो से नही होता है। किन्तु इनका सर्वनाश ज्ञान से ही होता है। ज्ञान क्या है ? उसका प्राप्ति के

1. क्षणिका· सर्वसंस्कारा, इत्येव वासना मता।
स मार्ग इह विज्ञेयो, निरोधो, मोक्ष उच्यते ॥

क्या उपाय हैं ? आदि विचारधारा मे ही सांख्य दर्शन की उत्पत्ति हुई है।

जैन दर्शन

जैन दर्शन का प्रमुख उद्देश्य है, आत्मा दुःख से मुक्त होकर अनन्त सुख की ओर बढ़े। जीव और पुद्गल इन दोनों का सम्बन्ध अनन्त काल से चला आ रहा है। बाह्य पुद्गलो के संयोग से ही जीव नाना प्रकार के कष्टों का अनुभव करता है। जब तक जीव और पुद्गल का सम्बन्ध विच्छेद नही होगा तब तक आध्यात्मिक सुख असम्भव है। जीव और पुद्गल दोनो तत्त्व अलग कैसे हो सकते है ? उसके सम्बन्ध मे आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ-सूत्र मे—"सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक चारित्र"[1] ये तीन मार्ग बतलाये हैं। तीनो के आचरण से ही जीव और पुद्गल सर्वथा अलग हो सकते हैं। एक बार जीव और पुद्गल के पृथक् होने पर पुनः उनका कभी सम्बन्ध नही होता। वह जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य वाला बन जाता है। इस प्रकार जैन दर्शन का उद्देश्य स्पष्ट झलक रहा है कि प्राणी दुःख से निवृत्त होकर अनन्त सुख मे प्रवृत्ति करें।

वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन के संस्थापक कणाद ऋषि थे। प्रस्तुत दर्शन का उद्देश्य भी निःश्रेयस की प्राप्ति हेतु ही धर्म का प्रादुर्भाव होता है। कणाद ने अपने वैशेषिक सूत्र मे लिखा है—धर्म वह पदार्थ है जिसमे सांसारिक उत्थान और पारमार्थिक निःश्रेयस दोनो मिलते हैं।[2]

जैमिनी दर्शन

प्रस्तुत दर्शन के प्रणेता जैमिनी ऋषि हैं। जैमिनी ऋषि के दो शिष्य थे। पूर्व मीमांसक और उत्तर मीमांसक। उनके नाम से ही यह दर्शन, पूर्व मीमांसक और उत्तर मीमांसक के नाम से प्रसिद्ध है। पूर्व मीमांसक यज्ञादि को माननेवाले हैं। इसके दो भेद हैं—प्रभाकर और भाट्ट। उत्तर मीमांसक अद्वैतवादी वेदान्ती हैं। उसके भी अनेक भेद हैं। इस दर्शन ने भी धर्म को

1 सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग।

—तत्त्वार्थ सूत्र। 1–1

2 यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म।

—वैशेषिक सूत्र। 1–2

ही प्रधानता दी है। मानव, धर्म के द्वारा ही कल्याण का मार्ग जान सकता है। अतः धर्म के स्वरूप को ठीक तरह से समझने के लिए यह जानना जरूरी है कि धर्म क्या है ? उसके साधन क्या हो सकते हैं ? तथा उसका अन्तिम प्रयोजन कैसे पूर्ण किया जा सकता है ? आदि प्रश्नो की मीमासा (युक्ति-युक्त पूर्ण) का नाम ही दर्शन है। इस प्रकार प्रस्तुत दर्शन का भी वही उद्देश्य प्रतीत होता है, जो अन्य दर्शनो का है।

चार्वाक दर्शन

भारतीय दर्शनो मे चार्वाक एकान्त भौतिकवादी दर्शन है। इस दर्शन की मान्यतानुसार सुख-दुःख इसी लोक तक सीमित हैं। यह लोक अर्थात् पुनर्जन्म को नही मानता। इस जीवन मे जितना सुख का उपभोग किया जाय उतना ही श्रेयस्कर है। इसके सम्बन्ध मे उनका एक सिद्धान्त-सूत्र प्रसिद्ध है कि ऋण करके भी इन्सान को खूब घी पीना चाहिए। मृत्यु के पश्चात् पुन. जन्म लेना पड़ेगा, ऐसा कहना सब मिथ्या है। क्योंकि शरीर की राख हो जाने पर कोई चीज नही बचती, जो पुन. जन्म धारण कर सके।[1] चार्वाक के मतानुसार ऐहिक सुख की प्राप्ति के लिए ही दार्शनिक विचारधारा का जन्म होता है।

इस प्रकार भारतीय दर्शनो मे चार्वाक दर्शन को छोड़कर शेष सभी दर्शन दुःख से मुक्त होकर नि.श्रेयस की प्राप्ति मे ही निष्ठा रखते हैं।

---

1. यावत् जीवेत् सुख जीवेत् ऋण कृत्वा घृत पिबेत्।
   भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत ॥

दर्शन और विज्ञान

आज इस भौतिकतावाद के चकाचौंध में पलनेवाले व्यक्तियों की आस्था दर्शन के प्रति जितनी नहीं है, वही उससे अधिक विज्ञान के प्रति है। इसका मूल कारण मानव का मानस सदा बाह्य जगत् की ओर रहता है, आध्यात्मिकता की ओर बहुत कम। दीर्घ-दृष्टि से चिन्तन करने पर यह स्पष्ट है कि दर्शन और विज्ञान का अन्तिम साध्य समान एक है। ये दोनों सत्य के द्वार तक पहुँचने में पूर्ण सहायक हैं। एक ज्ञानशक्ति द्वारा उन सत्य-तथ्यों तक पहुँचाने का प्रयास करता है तो दूसरा प्रयोग शक्ति के आधार पर। दर्शन चिन्तन प्रधान है, मस्तिष्क की वस्तु है। अतः यह सत्य के सही तथ्य का उद्घाटन स्थूल रूप में जनसमाज के सम्मुख रखने में सक्षम नहीं है और यह ज्ञान की वस्तु होने के कारण स्थूल रूप में रखा भी तो नहीं जा सकता, किन्तु, विज्ञान का कार्य उन तथ्यों को सही-सही प्रयोग द्वारा स्थूल रूप में दिखाना है। यह किसी वस्तु को गोपनीय न रखकर दर्पण की भाँति जन समाज के सम्मुख स्पष्ट रख देना चाहता है। एतदर्थ विज्ञान जन मानस को जितना अपनी ओर आकर्षित कर सकता है उतना दर्शन नहीं।

दर्शन आत्मतत्त्व प्रधान है और विज्ञान भौतिक शक्ति प्रधान है। दर्शन आत्मा, परमात्मा पर गम्भीर चिंतन प्रस्तुत करता है और विज्ञान बाह्य तत्त्वों पर अपने मौलिक विचार अभिव्यक्त करता है। दर्शन विश्व का एक सम्पूर्ण तत्त्व समझकर उसका परिज्ञान कराता है और विज्ञान जगत् के पृथक्-पृथक् पहलुओं का भिन्न भिन्न दिग्दर्शन कराता है। इस दृष्टि से दर्शन का क्षेत्र विज्ञान से बहुत व्यापक व विस्तृत प्रतीत होता है। दर्शन ज्ञान के अन्तिम तत्त्व तक पहुँचने का प्रयास करता है पर विज्ञान की दौड़ दृश्य जगत् तक ही सीमित है। दर्शन युक्ति और अनुभव को महत्त्व देता है, तो विज्ञान युक्ति को ठुकराकर केवल अनुभव का ही प्रधा

नता देता है। दूसरा विज्ञान और दर्शन मे मुख्य अन्तर यह है कि विज्ञान का निर्णय हमेशा अपूर्ण रहता है जब कि दर्शन अपने विषय का सर्वांगीण स्पष्टीकरण करता है। कारण कि विज्ञान सत्य के एक अंश को ही ग्रहण करता है जिसका आधार दृश्य जगत् ही है।

विज्ञान की बदलती तस्वीरें

विज्ञान एक स्वतन्त्र धारा है। ज्ञात होता है कि इस धारा ने धर्म और दर्शन के विवादास्पद द्वन्द्वो से अपना एक अलग-थलग मार्ग निकाला है। विज्ञान की दृष्टि मे सत्य वही है, जिस पर प्रयोगशाला की मुद्रा लग चुकी है। यह अन्धविश्वास को प्रश्रय नही देता है। कारण यह है कि तार्किक जगत् मे प्रत्येक विश्वास को तर्क की कसौटी पर कसकर ही मूल्यांकन किया जाता है, आज का मानव अपनी व्यक्तिगत तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का समाधान अपने पूर्वजो की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक ढग से निकालता है।

यह सब कुछ होने पर भी एक बात विचारणीय है कि विज्ञान के निर्णय अब तक स्थिर नही रहे है। इतिहास से यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि विज्ञान के निर्णय किस स्थिति मे किस प्रकार परिवर्तनशील है। एक वैज्ञानिक की सत्य बात दूसरे वैज्ञानिक के युग मे असत्य लगने लगती है। जैसे चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी तथा अन्य ग्रह गणो की गति, स्थिति और स्वरूप आदि के विषय मे 'टोलेमी' के युग की बात 'कोपरनिकस' के युग मे नही रही और 'कोपरनिकस' के नये निर्णयो पर प्रो० आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद ने एक नया रूप लेकर अपना प्रभाव जमा लिया। क्या ऐसी स्थिति मे अधिकार की भाषा मे यह कहा जा सकता है कि प्रो० आइन्स्टाइन के ये निर्णय अन्तिम है? कदापि नही, भले ही जो निर्णय आज सत्य प्रतीत हो रहे है वे ही कल भ्रान्ति के रूप मे परिवर्तित हो सकते है।

न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त से कौन अपरिचित है। विज्ञान जगत् मे गुरुत्वाकर्षण की धूम मच गई थी। पर आज के इस सापेक्षवाद के युग मे गुरुत्वाकर्पण का सिद्धान्त निष्प्रभ हो गया है।

"कहते है, आइन्स्टाइन के अनुसधान का प्रभाव न्यूटन के गुरुत्वाकर्पण वाले नियम पर भी पड़ा है। गुरुत्वाकर्पण को लेकर वैज्ञानिको मे कुछ

धाराएँ चला करती थी। प्रथम शंका यह थी कि गुरुत्वाकर्षण यदि शक्ति है तो उसके संक्रमण करने मे कुछ भी समय क्यो नही लगता, जैसे प्रकाश को लगता है। दूसरी यह है कि कोई भी आवरण गुरुत्वाकर्षण के मार्ग मे अवरोध क्यो नही डालता है। आइंस्टाइन ने बताया कि गुरुत्वाकर्षण शक्ति नहीं है। पिण्ड एक दूसरे की ओर इसलिए खिंचे दीखते हैं कि हम जिस विश्व मे अवस्थित हैं वह यूक्लिड के नियमो से परे का विश्व है। विश्व को चार आयामो से संयुक्त मानने पर प्रत्येक द्रव्य के पास कुछ वक्रता होगी। इसी को हम गुरुत्वाकर्षण समझते आये हैं। इस प्रकार गुरुत्वाकर्षण को आइंस्टाइन ने देश और काल का गुण स्वीकार किया है।"[1]

वास्तव मे देखा जाय तो यह उस परिभ्रमणशील वेगवती वस्तु का ही एक विशिष्ट गुण है। इसका आन्तरिक रहस्य न जानने के कारण ही लोग उसे आकर्षण की वस्तु समझकर आश्चर्य प्रकट करते हैं, पर यह सत्य नही है। जो सिद्धान्त एक दिन विश्व मे इतना ऊहापोह कर आया था, आज उसका उफान बिलकुल शान्त है। और भी बतलाया जाता है कि—

"एक दिन पदार्थ का अन्तिम अविभाज्य अंश अणु माना जाता था और लोग उसे बिलकुल ठोस समझते थे। फिर जब परमाणु का पता चला तब विज्ञान उसी को ठोस मानने लगा। किन्तु आज परमाणु ठोस नही, पोला माना जाता है, जिसके नाभिक (न्यूक्लियस) के चारो ओर इलक्ट्रोन और प्रोटोन नाच रहे हैं। परमाणु इतने पोले माने जाते हैं कि वैज्ञानिकों का यह अनुमान है कि यदि एक भरे-पूरे मनुष्य को इस सम्भी से दबा दिया जाय कि उसके अंग का एक भी परमाणु पोला न रहे तो उसकी देह सिमटकर एक ऐसे बिन्दु मे समा जायगी जो आँखो से शायद ही दिखाई पडे।"

वैज्ञानिक जगत मे हजारो ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं जिसकी एक लम्बी-चौड़ी सूची तैयार हो सकती है। इन बदलते हुए निर्णयो के कारण ही विज्ञान का सत्य सदा संदिग्ध रहा है। एक बात यह है कि विज्ञान ने जिस बात के लिए कभी सोचा नही, खोज नही कि, अथवा जो विज्ञान के वातावरण मे विज्ञान सम्मत नही है उसे वैज्ञानिक असत्य कहकर ठुकरा देते हैं जो

1 ज्ञानोदय का विज्ञान अंक 2 (1959) नवम्बर, 'न्यूटन से आगे आधुनिक भौतिक विज्ञान के विकास की दिशाएँ।' निबंध, पृ० न० 9।

तीय संस्कृति में पड्दर्शनों का संगम देखने को मिलता है। इस प्रकार का विज्ञान के क्षेत्र में रहा। सभी वैज्ञानिक प्रायः एक ही मार्ग पर स्थित हैं और जो विभिन्न दिखलाई पड़ते हैं, उन्हें भी एक स्थान पर आज नहीं तो कल आना ही पड़ेगा। यों दर्शन और विज्ञान का जीवन में अपना एक स्वतंत्र महत्त्व है। उसकी पूर्ण उपयोगिता है। दोनों जीवन के लक्ष्य तक पहुँचने के प्रशस्त मार्ग हैं। हाँ, इतना अन्तर अवश्य ज्ञात होता है कि दर्शन का प्रमुख झुकाव आत्म तत्त्व की ओर है, इससे मानव को परम तत्त्व की उपलब्धि होती है, जबकि विज्ञान का प्रवाह भौतिक तत्त्व की ओर ही प्रवाहित हुआ है। इसमें मानव को नवीनतम भौतिक साधन प्रसाधन प्राप्त होते हैं। अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विज्ञान और दर्शन में कुछ अन्तर प्रतीत होने पर भी समन्वय का तत्त्व ही अधिक मात्रा में पाया जाता है।

एक स्वर यह भी है कि दर्शन और विज्ञान में विभेद ही क्या है? भारतीय विश्लेषकों ने दर्शन शास्त्र द्वारा समस्त वैज्ञानिक रहस्यों को अपने मानसिक श्रम—तप द्वारा समुपस्थित कर दिया है, फिर मानव विज्ञान को क्या अपनाये। दार्शनिक शास्त्र भी गुणान्वेषण वृत्ति का ही प्रोत्साहित करते हैं पर विचारणीय प्रश्न यहाँ यह है कि दर्शन का कार्य अतीत की अपेक्षा चाहे कितना ही विस्तृत मान लें, पर वर्तमान विज्ञान की अपेक्षा दार्शनिकों का चिंतन कुछ प्रमाण तक सीमित ही था। दर्शन और विज्ञान में कुछ मौलिक भेद है, इसे समझना आवश्यक है। दार्शनिकों ने सृष्टि के विभिन्न तथ्यों का पता लगाया और वैज्ञानिक विश्लेषकों ने उन्हें प्रत्यक्ष कर दिखाया। दर्शन का आधार धर्मशास्त्र रहा है, अर्थात् धर्मशास्त्र कथित तथ्यों का प्रस्फुटीकरण दर्शन शास्त्र में हुआ है। इसलिए कहीं-कहीं अन्धविश्वासों को भी दर्शन में अवकाश मिला है, जब कि विज्ञान किसी भी आश्चर्यजनक घटना को ईश्वरीय संकेत या प्राकृतिक घटना न मानकर उसके कारणों की खोज की ओर बुद्धि को गतिमान करता है। दार्शनिक तो आप्त पुरुषों की वाणी को ही अन्तिम सत्य मानता आया है। इसमें तर्क करना नास्तिकता है। दर्शन क्षेत्र का कार्य ही आज धर्म और अध्यात्म की विविध मान्यताओं पर स्थित है, जबकि विज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और मनुष्य को कार्यक्षम बनाने की प्रेरणा देता है। दर्शन चिन्तन प्रधान है और विज्ञान कार्य

और उत्पत्ति का तत्त्व समझ कर उन्हे जीवनोपयोगी बनाने का मार्ग प्रस्तुत करता है। सचमुच यह महा देवता है। विज्ञान ने अन्धविश्वासजन्य सम्पूर्ण मान्यताओ को चुनौती दे रखी है। उपर्युक्त माने जाने वाले वैज्ञानिक तथ्यो मे वायु और पृथ्वी को आज का वैज्ञानिक स्वतन्त्र तत्त्व मानने को तैयार नही।

आधुनिक विज्ञान का प्रारम्भ

विज्ञान मानवी चेतना का ही एक विशिष्ट रूप है। अतएव धरातल पर जब से मानव और उसकी चेतना का अस्तित्व है, तब ही से विज्ञान का अस्तित्व स्वीकार करना होगा। उसका आदि काल निर्धारित करना "ऋषियो के कुल और नदियो के मूल" खोजने के समान होगा। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आधुनिक विज्ञान का जन्म ईसा के पन्द्रहवी शती से माना जाना युक्तिसगत है। जो भी हो, इसमे सदेह नही कि विज्ञान के प्रभाव ने मानव समाज की काया पलटने मे अनुपम योग दिया है। यद्यपि प्राचीन विज्ञान की गति में मानव समाज को शीघ्र परिवर्तन की क्षमता न थी, साथ ही कई बाधाएँ भी खडी कर दी जाती थी। पर विज्ञान के नवीन स्वरूप में, बाधक तत्त्व के अभाव मे, समाज को शीघ्र परिवर्तित करने की अद्भुत शक्ति है।

विज्ञान की प्रगति से पूर्व

विज्ञान के समुचित विकास और प्रगति के पूर्व मानव समाज के अधिकांश कार्य और विचार पुरातन धार्मिक सिद्धांतो द्वारा नियन्त्रित थे। धार्मिक पहलुओं का सभी क्षेत्रो मे प्रभाव था। ज्ञान के समग्र विषयों का धर्मशास्त्रो मे ही अन्तर्भाव था। इतिहास, गणित, भूगोल, खगोल और समाज-शास्त्र आदि विषयो का केन्द्र-विन्दु भी धर्म-शास्त्र ही था। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ धर्म के द्वारा अपनी प्रगति में कुछ प्रेरणा मिली, वहाँ धर्म मे बढ़ते हुए जड विश्वासो के कारण हानि भी कम नही हुई। धर्म अत्यन्त पवित्र वस्तु है और अन्तर्जगत् से सम्बद्ध है, पर स्थितिपालको या अत्यन्त पुरातनवादियों की दर्प-वृत्ति के कारण कभी-कभी इस पवित्र वस्तु मे भी स्वार्थवश ऐसा विकार उत्पन्न हो जाता है कि वह प्रेरणा का स्रोत होकर भी स्वय प्रेरणा का पात्र बन जाता है। तभी निरकुश धार्मिक व्यक्तियों

द्वारा प्रतिपादित धर्म अपनी वास्तविकता खो बैठता है। इनका स्थान रूढि और ज्ञानहीन परम्पराए ले लेती हैं। भारत मे धर्म के नाम पर जातिवाद और मानव-मानव मे भी भेद की कल्पना को, रूढि प्राबल्य के कारण ही, प्रश्रय मिला। परिणामस्वरूप बुद्धिजीवी वर्ग धर्म के प्रति वफादार रहने की भावना से दूर हटता गया। विज्ञान की प्रामाणिक किरणो ने धर्म के स्वर्णोदय से नवीन चेतना और सस्कारो का बल दिया।

नौ

अविकसित धर्म और विज्ञान का संघर्ष

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—वैज्ञानिक जागरण से धर्म के प्रति जड़ विश्वास हिलने लगे। धर्म प्रतिपादकों ने स्थितिपालक वृत्ति के आवेग मे इन वैज्ञानिकों की न केवल निन्दा ही करनी आरम्भ की, अपितु, उन मनीषियो को अकथ्य यातनाएँ भी दी जाने लगी। गैलिलियो को नक्षत्रों की खोज पर कारावास भुगतना पड़ा। कोपरनिकस के 'सूर्य पृथ्वी के चारों तरफ भ्रमण नहीं करता' कहते ही उसे धर्मद्रोही घोषित किया गया। डार्विन के विकासवाद ने धार्मिक जगत् मे भारी हलचल पैदा कर दी चूंकि तात्कालिक कथित धर्मवेत्ता केवल धर्म शास्त्रों के सिद्धान्तो के अन्धभक्त थे, क्योंकि बाईबिल मे तो मानव को आदम और हव्वा का उत्तराधिकारी बताया गया है। तात्पर्य, बाईबिल या तदनुरूप धर्मशास्त्रों के विरुद्ध समस्त शुद्ध वैज्ञानिक प्रयत्नो की न केवल उपेक्षा ही होने लगी, अपितु गवेषको पर नाना प्रकार के अत्याचार भी होने लगे। पर विजयश्री वैज्ञानिको के साथ ही रही। कालान्तर मे उनकी शोध आदरणीय बन गई। 19वी शताब्दी के समाप्त होते-होते विज्ञान का प्रभाव प्रचुर परिमाण मे बढ़ चला। सम्प्रदायवाद और जातिवाद इन पर तनिक भी अपना प्रभाव न डाल सके। इसके विपरीत सम्राट्, राजा और अन्य शासक ने वैज्ञानिको को खोज मे सहायता देकर उन्हे प्रोत्साहित करने मे गर्व का अनुभव करने लगे।

प्रसंगतः यहाँ एक बात का उल्लेख अनिवार्य प्रतीत होता है कि सापेक्षत. विज्ञान के प्रति भारतीय दृष्टिकोण सहिष्णुतापूर्ण रहा है। यहाँ प्राचीन और अर्वाचीनों मे मतभेदों की कमी न रहने के बावजूद भी कभी किसी नूतन विचार प्रवर्तक को न फांसी पर लटकाया गया और न उसे अन्य किसी प्रकार की शारीरिक यातनाओं का ही सामना करना पड़ा है। भारतीय संस्कृति अहिंसा प्रधान होने के कारण समन्वयवादी दृष्टिकोण से ओत-प्रोत है। यहाँ यह भी

विस्मृत न करना चाहिए कि विज्ञान ने कभी भी चरम सत्य उपलब्धि का आग्रह नहीं रखा और भविष्य में शोध के कार्य बन्द नहीं किये। जिन साधनों के आधार पर जो कालिक सत्य शोध में उद्भूत हुए वे कालान्तर में अन्य साधन उपलब्ध होने पर बदल भी सकते हैं। तात्पर्य विज्ञान विकासोन्मुखी तत्त्व है। किसी वस्तु को वह अपरिवर्तित नहीं मानता।

सुप्रसिद्ध अमेरिकन दार्शनिक और वैज्ञानिक विलियम जेम्स ने ठीक ही कहा है 'विज्ञान ने आज तक जिन तथ्यों की गवेषणा की है वे केवल संभाव्य हैं। किसी को पूर्ण एवं अन्तिम सत्य नहीं माना जा सकता। उनमें संशोधन और परिवर्तन का पूर्ण अवकाश है। यह भी संभव है कि कुछ बद्धमूल धारणाएँ भ्रान्त सिद्ध हो जाएँ और उन्हें पूर्ण रूपेण छोड़ना पड़े। जिज्ञासु को नये विचारों का स्वागत करने के लिए सदा उद्यत रहना चाहिए।"

दस

विज्ञान का सार्वभौम प्रभाव

धर्म विज्ञान द्वारा प्रभावित होने के कारण तदनुरूप प्रचलित दर्शनो को भी विज्ञान का मार्ग निर्देशक मानना पड़ा। जिन मूल दार्शनिक तथ्यो पर वैज्ञानिको को आपत्ति थी वह उनने दार्शनिको के समक्ष रख दी। चाहे इनने उनका मत मान्य न रखा, पर विज्ञान का लोहा तो मानने ही लगे। राजनीति, जो एक अचिर स्थायी तत्त्व है, तो विज्ञान की दासी ही बनी हुई है। परिवर्तन विज्ञान पर ही निर्भर है। कहने का तात्पर्य है कि चित्र, सगीत, वाद्य, लेखन, सम्भाषण, शिल्प और शिक्षा आदि कलाओ के प्रत्येक क्षेत्र पर विज्ञान ने अपना इतना प्रभाव जमाया कि विना इसके कार्यक्षेत्र को गति नही मिलती थी। यहाँ तक कि खान-पान, रहन-सहन, यातायात, युद्धकला, दर्शन-स्पर्शन आदि इन्द्रियजन्य सभी विषयो पर विज्ञान का अक्षुण्ण प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। प्रत्येक देश की सस्कृति और सभ्यता के समस्त उपकरण विज्ञान की छाया मे पनप रहे है।

विश्व को निकट लाने में विज्ञान का हाथ

मानव-समाज पर विज्ञान का सर्वोत्कृष्ट और सीधा जो प्रभाव पड़ा है वह है विश्व के समस्त राष्ट्रो मे नैकट्य स्थापित करना। यही कारण है आज वैज्ञानिक दृष्टि से माना जाने वाला सारा विश्व 19 करोड मील क्षेत्रफल वाली पृथ्वी पर एक सयुक्त परिवार के समान अपने-आपको अनुभव करता है। द्रुतगामी साधनों ने विभिन्न देशो मे सामीप्य स्थापित कर यह सिद्ध कर दिया है कि चाहे कोई राष्ट्र या उसका प्रमुख व्यक्ति कितना ही बड़ा और शक्ति-सम्पन्न क्यो न हो, पर वह एकाकी अपना राष्ट्रीय कार्य सहृदयतापूर्वक सम्पन्न नही कर सकता, या अपने को अन्य राष्ट्रो मे पृथक् नही रख सकता। इसीलिए तो प्रत्येक क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग दिनानुदिन बढ़ते जा रहे है। यद्यपि इस पवित्र कार्य मे संकीर्ण

और स्वार्थी राष्ट्र बाधा अवश्य उपस्थित करते हैं, पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय विकास में उल्लेखनीय योग देता है। विश्व सरकार और विश्व धर्म की कल्पना विज्ञान की व्यापकता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। विश्व न्यायालय तो स्थापित हो ही चुका है। सौ वर्ष पूर्व इसकी कल्पना ही असम्भव थी।

विज्ञान का वास्तविक विकास अहिंसा पर विशेष निर्भर करता है। उसीसे मानव जीवन में सच्चे सौन्दर्य और ऐक्य का स्थायित्व सम्भव है। अहिंसाहीन विज्ञान के परिणाम क्या होंगे? यह आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक परिस्थितियों को देखते हुए, शायद ही बताने की आवश्यकता हो।

ग्यारह

धर्म का स्वरूप

भारतवर्ष में धर्म

बहुत प्राचीन काल से भारत की ख्याति एक धर्मप्रधान देश के रूप मे रही है। यहाँ की संस्कृति और सभ्यता का पल्लवन धर्म के ही मूल्यवान सिद्धान्तो के आधार पर हुआ है। ऋषि-मुनि व तत्त्व समीक्षको ने तपोवन मे रहकर त्यागमूलक जीवन व्यतीत करते हुए जो अनुभूतियाँ प्राप्त की, उनका व्यक्तिकरण भी अधिकतर धर्म के माध्यम से हुआ है। धर्म का सम्बन्ध भले ही आत्मस्थ हो पर वह एक सामाजिक वस्तु है। समाज इतिहासबद्ध संस्था है जो स्वय अपने-आपमे एक विज्ञान है, अत. समाज की अन्तरात्मा का यथोचित पोषण यदि धर्म द्वारा होता है तो बाहरी आवश्यकताओ की पूर्ति विज्ञान द्वारा होती है, अत धर्म और विज्ञान को समीक्षात्मक दृष्टि से भिन्न मानने मे बुद्धिमत्ता नही है। धर्म जीवन का एक ऐसा महत्त्वपूर्ण अंग है, जहाँ मानव कुछ क्षणो के लिए अपने-आपको सांसारिक यत्रणाओ मे मुक्त पाता हुआ आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव करता है। वह लौकिक जीवन मे रहकर भी धर्म द्वारा आन्तरिक चित्तवृत्ति मे लीन रहने के कारण लोकोत्तर या अनिर्वचनीय सुख का बोध करता है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की सुख-शान्ति और समृद्धि धर्म के समुचित विकास पर अवलम्बित है। अन्तर्जगत् से सम्बद्ध रहने के बावजूद भी उसका वास्तविक स्वरूप व्यावहारिक है और वह बाह्य क्रियाओ द्वारा ही जाना जाता है। इसे आचार की सज्ञा दी जाती है। आचार परम्परा के कारण ही इसे इतिहास-सम्बद्ध मानना पडता है। कारण कि ससार मे चाहे कोई भी वस्तु कितनी भी आन्तरिक हो पर व्यवहार द्वारा ही अनुभूत होने के कारण वह आचारमूलक होती है और सामयिक प्रवाह के अनुसार उसकी आत्मा के अपरिवर्तनीय रहने पर भी आचारो मे समय के अनुसार परिवर्तन करना

पडता है या स्वय हो जाता है। धम के आचारमूलक विकास को देखते हुए कहना पडता है कि समय-समय पर एक ही धम ने वाह्य स्थिति मे बहुत-कुछ परिवतन इसलिए किया कि उसे जीवित रहना था। सामाजिक परिस्थितियो के आधार पर अधिकाशत पनपने वाले तत्त्वो मे परिवतन आना स्वाभाविक है। परिवतन ही इसकी सजीवनी शक्ति है। जब हम ऋतु के अनुसार वस्त्र परिवतन कर मूल रूप मे अपनी देह का रक्षण कर सकते हैं तो व्यापक रूप मे परिवर्तित परिस्थितियो मे भी वाह्य व्यवहार मे परिवतन कर अपनी मूल वस्तु की रक्षा कर सकते है। यह परिवतन जीवन-शक्ति ही प्रदान नही करता किन्तु विचारो म भी क्रान्ति समुत्पन्न करता है।

धम की परिभाषा

अत्यधिक आत्मिक वस्तु को परिभाषा मे बाँधना बडा कठिन हो जाता है, क्योकि अधिक चचनीय वस्तु का जब जीवन से सम्बन्ध क्षीण होने लगता है तब मनुष्य इसे व्याख्या द्वारा स्थायित्व देने की चेष्टा करता है। धम की लगभग यही स्थिति है, क्योकि धम की चर्चा शब्दत तो बहुत होती है, पर जीवन से गहरा सम्बन्ध अल्प ही रहता है। इस प्रकार के वाणी विलास का व्यापक प्रभाव यहाँ तक प्रसरित है कि अनपढ या धम के सम्बन्ध मे अत्यल्प ज्ञान रखने वाला भी ब्रह्म, मोक्ष और अनेकान्तवाद की चर्चा करते नही अघाता। ईमानदारी के साथ यदि देखा जाय तो धम केवल वाणी तक ही सीमित रहने वाला तत्त्व नही, अपितु इसके सिद्धान्त दनिक जीवन म ओत प्रोत रहने चाहिये। धम के मम तक बहुत कम लोग पहुँच पाते हैं। जिनकी पहुँच है उनकी वाणी मौन रहती है।

भारत मे सचमुच धम की बहुलता है। व्याख्याकार भी अनेक हैं। कोई दशन के द्वारा धम को समझाने की चेष्टा करता है, तो कोई केवल आचार द्वारा ही इसकी व्याख्या करने म प्रयत्नशील है। अत धम की भारत मे प्रचुर व्याख्याएँ व परिभाषाएँ मिलती हैं। जनदशन के उद्भट विद्वान प्रज्ञा चक्षु प० श्री सुखलालजी सघवी ने अपने 'दर्शन और चिन्तन' नामक ग्रथ में जॉन मॉर्ले के मतानुसार यह बताया है कि "धम की लगभग दस हजार व्याख्याएँ हो चुकी हैं फिर भी उनम सभी धर्मों का समावेश नहीं होता। आखिर बौद्ध, जन आदि धम उन व्याख्याओ मे बाहर ही रह जाते हैं।"

व्याख्याकार मात्र सम्प्रदाय या अपने धर्म तक ही सीमित रहना है। किसी भी प्रकार के व्यामोह या पूर्वाग्रह से प्रभावित व्यक्ति से व्यापक या सर्वजन-गम्य व्याख्या की आशा नही की जा सकती है।

धर्म शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार की जाती है—"धारणात् धर्मः" जो धारण किया जाय वही धर्म है। धर्म शब्द धृ धातु से निष्पन्न हुआ है जिसमे 'मय' प्रत्यय जोडने से धर्म शब्द बनता है, जिसका तात्पर्य है धारण करने वाला। पर वह क्या धारण करता है? यह एक प्रश्न है। जहाँ तक धारण करने का प्रश्न है समस्त धर्म और सम्प्रदाय इससे सहमत हैं पर जो धारण कराया जाता है मत-भिन्नता वही हैं। क्योंकि प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय के सदस्य अपने अनुकूल तथ्यों को ही धारण करते हैं और वह ही आगे चलकर उनकी दृष्टि मे धर्म बन जाता है।

जैन दर्शन बहुत ही व्यापक और व्यक्तिस्वातन्त्र्यमूलक दर्शन के रूप मे बहुत प्राचीन काल से प्रतिष्ठित रहा है। प्राणी-मात्र का सर्वोदय ही इस दर्शन का काम्य है। वह मानव-मानव मे उच्चत्व, नीचत्व की कल्पना का विरोधी है। वह प्राणीमात्र के विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। वह इतनी क्रांतिकारी घोषणा करता है कि अपने उत्थान-पतन मे किसी को साधक-बाधक नही मानता, वह अपने विकास के लिए ईश्वर तक की परा-धीनता मे तनिक भी विश्वास नही रखता। उत्थान-पतन का दायित्व व्यक्ति के पुरुषार्थ पर अवलम्बित मानता है। वरदान या अभिशाप जैसी कोई वस्तु जैन दर्शन मे नही पनपी। अवतारवाद को भी वह अस्वीकार करता है। वह मनुष्य को इतना विकसित प्राणी मानता है कि उसे परमात्मा तक होने का अधिकार प्राप्त है। परमात्मा मे और मानव मे केवल इतना ही अन्तर है कि परमात्मा ने प्रकाश का पूर्णत्व प्राप्त कर लिया है, और मानव अपने मे स्थित प्रकाश को आवरण द्वारा ढंके रखने के कारण ही मानव बना हुआ है। यदि मनुष्य चाहे तो विशिष्ट आध्यात्मिक पुरुषार्थ द्वारा अनावृत्त होकर परमात्म पद प्राप्त कर सकता है।

जहाँ त्यागमूलक जीवन-यापन करने वाले मनीषियो द्वारा धर्म जैसे पवित्र तत्त्व की व्याख्या प्रस्तुत की जाय वहाँ स्वभावतः सर्वजनोपयोगी व्यापक दृष्टिकोण रहे यह स्वाभाविक है। आचार्य कुन्दकुन्द ने धर्म की

बहुत सुंदर, संक्षिप्त और सारगर्भित व्याख्या करते हुए "वत्थु सहावो धम्मो" वस्तु के स्वभाव को ही धर्म कहा है। प्रत्येक पदार्थ या वस्तु का अपना निज स्वभाव होता है और वह स्वभाव ही उसका मूल धर्म है। उदाहरणार्थ शीतलत्व जल का मूल धर्म है, अग्नि का उष्णत्व। आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मभाव में रहना आत्मा का मूल धर्म है। पुद्गलों के विकारों में रमण करना अधर्म है। अर्थात् सांसारिक वृत्तियों में लीन रहकर केवल विलास और वैभव को ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानकर जीवन व्यतीत करना तात्त्विक दृष्टि से अधर्म ही है। परिग्रह मात्र का पोषण धर्म की कोटि में नहीं आता, क्योंकि इससे हिंसा वृत्ति प्रोत्साहित होती है।

परवर्ती जैनाचार्यों ने समसामयिक परिस्थिति के अनुसार धर्म की प्रशस्त व्याख्याएँ एवं उसे जीवन के दैनिक क्रम में किस प्रकार आचार में लाया जा सकता है? समाज और नीति से इसका क्या सम्बन्ध है आदि अनेक विषयों का सारगर्भित विवेचन कर धर्म को अधिक लोक भोग्य बनाने का अनुकरणीय प्रयास किया है। परवर्ती आचार्यों की व्याख्याएँ मौलिक रूप में उपर्युक्त सूचित सिद्धान्त का ही अनुगमन करती हैं।

धर्म का प्रादुर्भाव

धर्म समाज का एक अत्यावश्यक अंग रहा है। इसकी उत्पत्ति का आदिकाल ऐतिहासिक दृष्टि से अज्ञात है। समाज विज्ञान की दृष्टि से जब से मानव का अस्तित्व है तभी से धर्म का भी अस्तित्व स्वीकार करना होगा। संसार के किसी भी कोने में शिक्षित या अशिक्षित मानव का सम्भवतः कोई भी वर्ग ऐसा न होगा जिसका अपना कोई धर्म न हो। धर्महीन समाज के जीवन में मधुरता नहीं रह सकती, चाहे वह विचारमूलक हो या आचारमूलक। यद्यपि यह स्थान धर्म की ऐतिहासिक समीक्षा का नहीं है, न अधिक विस्तार से प्रस्तुत प्रश्न पर गम्भीर विचार करने का ही है, यहाँ तो केवल प्रासंगिक संकेत से ही सन्तोष करना होगा, क्योंकि धर्म एक श्रद्धा ग्राह्य तत्त्व है। धर्म जब इस पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाता है तो श्रद्धा को स्वभावतः चोट पहुँचती है। नई विचार धारा जब समाज में आती है तब पुरातन रूढ़िवादी और विचार परम्परानुयायी उसे पाखण्ड और नास्तिक समझने लगते हैं। यहाँ का तात्पर्य केवल इतना है "विशेष प्रकार के विचारों के सम्बन्ध में

वैज्ञानिक युग में आवश्यकता ही क्या है ? इस अतिरेकपूर्ण विचार धारा मे कितना तथ्य है । यह बताने की शायद ही आवश्यकता रहती हो, पर इतना कहने का लोभ संवरण नही किया जा सकता कि जो धर्म वास्तविकता को लिए हुए है वहाँ तो भंयकर वैषम्य मे भी साम्य प्रस्थापित हो जाता है। विकार और वासना का जहाँ क्षय हो जाय तो फिर विसंवाद को अवकाश ही कहाँ मिलता है । सच बात तो यह है कि धर्म के नाम आपत्तियाँ तब खडी होती है जब इस आत्मिक और परम निर्मल वस्तु के साथ ही अपने-अपने सम्प्रदाय को संयुक्त कर देते हैं और तब असहिष्णु वृत्ति के प्रोत्साहन ने ही धर्म अपयश का भागी बनता है। आंतरिक धर्म एकत्व का ही प्रतिपादक है, भेद का नही । व्यवहार मे आचरित नियमो मे भले ही भिन्नत्व हो ! मौलिक तथ्य तो त्रिकालावाधित है । धर्म के मर्म को आत्मसात् न करने के कारण ही समाज मे अशांति फैलती है। मैं पूर्ण आस्था और विश्वास के साथ कहना चाहूँगा कि आज के बौद्धिक युग में वास्तविक जीवन के संतुलन को बनाये रखने के लिए परमार्थ वृत्ति या धर्म का होना नितान्त आवश्यक है। अनैतिकता द्वारा आज जो राष्ट्रीय चरित्र का दिनानुदिन ह्रास हो रहा है, इसका एक मात्र कारण धार्मिक शिक्षा का अभाव ही है । बालक के मन मे प्राथमिक शिक्षा के साथ ही नैतिकता और धर्म के संस्कार डाल दिये जाएँ तो कोई कारण नही कि राष्ट्रीय चरित्र का धरातल गिरता रहे ।

यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि धर्म के नाम पर साम्प्रदायिक वृत्ति का पोषण न हो, जो राष्ट्रीय विकास की सबसे बडी बाधा है। साम्प्रदायिक भावना ने ही धर्म को बदनाम कर रखा है । धर्म समत्व का अमर सदेश देता है। तात्पर्य यह कि धर्म सभी परिस्थितियो में अतीव आवश्यक है बशर्ते कि उस पर साम्प्रदायिकता का आवरण न हो।

धार्मिक शिक्षा

भारतवर्ष अतीतकाल से अध्यात्म-विद्याओ का केन्द्रस्थल रहा है। जहाँ पाश्चात्य वैचारिकों ने अपनी शक्ति का प्रयोग अणु-परमाणु के अन्वेषणा मे किया वहाँ भारत के तत्त्वचिंतक मनीषियों ने आध्यात्मिक तत्त्व की खोज में । इसका अर्थ यह नहीं कि भारतवर्ष भौतिक कला और विद्याओ

से शून्य ही रहा। किंतु यहाँ पर भौतिक और आध्यात्मिक दोनों कलाओं का सुंदर संगम रहा है जिसका अंकन इतिहास के पृष्ठों पर स्पष्ट अंकित है। तक्षशिला और नालंदा विश्वविद्यालयों की प्रख्याति दूर-दूर के प्रांतों और देशों में फैली हुई थी। उन विद्यालयों की प्रयोगशाला में अपना सांस्कृतिक जीवन ढालने के लिए बड़े-बड़े पहाड़ों और सरिताओं को ही नहीं किंतु विशाल समुद्रों को भी लाँघकर विद्याप्रेमी विद्यार्थी समुपस्थित होते थे। वहाँ षड्दर्शन, सांख्यदर्शन, गणित, ज्योतिषशास्त्र, नीतिशास्त्र और आध्यात्मिक फिलॉसफी का अध्ययन कराया जाता था। एक कुलपति के सान्निध्य में सैकड़ों अध्यापक और हजारों विद्यार्थियों का समूह रहता था। इससे स्पष्ट है कि भारतीय परम्परा में भौतिक विज्ञान की अल्पता नहीं थी। पर उन सबका प्रयोग आत्मस्वरूप के विकास में ही किया जाता था। वहाँ हेय, ज्ञेय और उपादेय का पूर्ण विवेक होता था। उन गुरुकुलों में वे कलाएँ और विद्याएँ सिखलाई जाती थीं जो बौद्धिक विकास के साथ ही अन्तश्चेतना में भी ज्ञान का सबलाइट जगमगा सकें और सांस्कृतिक जीवन का निर्माण कर सकें। जो विद्या मानव को विलासिता के पंकज में गिरा दे और परतन्त्रता की जंजीरों में आवेष्टित कर दे, उसका भारतीय दृष्टि से कोई मूल्य नहीं था। महर्षि मनु ने विद्या की सार्थकता बतलाते हुए क्या ही सुंदर कहा है—

"सा विद्या या विमुक्तये"

विद्या वही है जो व्यक्ति को संसार के बंधनों से मुक्त कर मोक्ष की दिशा में प्रेरित करती हो।

उक्त दृष्टि से जब हम चिन्तन करते हैं तो पाते हैं कि भारतवर्ष दार्शनिक और आध्यात्मिकवाद में अत्यन्त समुन्नत था। पर वर्तमान शिक्षा पद्धति को देखते हुए आध्यात्मिक विकास का नारा पुरातन युग की बीती बात सा हो गया है। आज आध्यात्मिक शिक्षा के मार्ग पर भौतिक शिक्षा ने अपना सुदृढ़ अड्डा गाड़ दिया है। यदि आज के विद्यार्थी से यह प्रश्न किया जाय कि डार्विन का विकासवाद और कार्लमार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा साम्यवाद क्या है? तो सम्भव है वह इन विषयों पर घंटों तक अभिनव भाषा में भाषण झाड़ सके किन्तु उससे यह पूछा जाय कि भगवान् महावीर

इसमें कोई सदेह नही कि प्राकृतिक शक्ति का सर्वाधिक उपयोग इटली तथा जापान ने किया है। इटली में इधन का अपेक्षाकृत अभाव था, वहाँ के वैज्ञानिको की दृष्टि भूमिगर्भस्थ ऊष्मा पर केन्द्रित हुई। क्यो न इस ऊष्मा का उपयोग किया जाय? फलत फ्लोरेंस के निकटवर्ती एक जगह लावा में से निकलने वाली ऊष्मा से वे प्रिम कोटि विद्युत पैदा करने में यहाँ तक सफल रहे कि फ्लोरेंस, सीमा का समीपवर्ती भू भाग और नेपल्स इस विद्युत से प्रकाशित हो उठे।

वायु तत्त्व भी जीवन का एक अत्यन्त अनुपक्षणीय तत्त्व है। वायु की शक्ति अपूर्व है। वायु शुद्धि ही आध्यात्मिक दृष्टि से योग मार्ग का एक सोपान है। वायु का धर्मानिक महत्त्व भी किसी भी दृष्टि से कम नही। शक्ति के नूतन साधनो के लिए वैज्ञानिको ने वायु शक्ति की आवश्यकता का तीव्र अनुभव किया। बृहत्तर सागर और महाद्वीपो पर तीव्र गति से वायु सचार होता रहता है। पर मानव के इसके मूल से परिचित होने के बावजूद भी इस पर कैसे नियन्त्रण रखा जाए, यह एक समस्या थी। क्योकि मुक्त विचरण करने वाली वायु को मानव सीमा में किस प्रकार आबद्ध करे। अभी कुछ ही वर्ष हुए, वायु शक्ति का नियन्त्रित कर इसका उपयोग यन्त्र चालित मशीनो में किया गया। इससे विद्युत भी उत्पन्न की जाती है। अमेरिका म वायु चालित यन्त्रोद्योग विस्तृत हो चुका है। मेजर विल्सन ने सन् 1024 में एक अत्यधिक शक्ति सम्पन्न वायु चालित यन्त्र का आविष्कार किया था। मनाग्यवामी फेन्मेडन ने एक बार ब्रिटिश एसोसिएशन के समक्ष सम्भाषण करते हुए कहा था "यदि इग्लण्ड के सभी ऊँचे पठारो पर वायु यन्त्र स्थापित किये जाएँ तो उनसे विद्युत् पैदा की जा सकती है जिससे देश के यन्त्रोद्योग को प्रोत्साहन मिलेगा।"

यह तो एक मानी हुई बात है कि सूर्य भी शक्ति का एक बहुत बड़ा महास्रोत है। अध्यात्म प्रधान भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत सूर्य को धार्मिक जगत् में जो प्रतिष्ठा प्राप्त है वह सर्वोत्कृष्ट है। ऋग्वेदय व योगान्तर्गत सत्वा में सूर्य का महत्त्व सर्वविदित है। सूर्य ने भारतीय कला के विकास में बहुत बड़ा योग प्रदान किया है। प्राचीनतम सूर्य पूजोपासना के प्रचुर परिमाण म उपलब्ध हैं। भारत में सूर्यपूजक जाति विकसित रही है। न केवल

बारह

धर्म और विज्ञान

"आश्चर्य पूर्ण विश्व सबसे सुन्दर है। ऐसा अनुभव होता है। सच्ची कला का और विज्ञान का वही उद्‌गम स्थान है। जिसके मन में इस भावना का उदय नही होता, जिसे चमत्कार और विस्मय मालूम नही होता, कहना चाहिए कि उसके नेत्र हमेशा के लिए फूट गये, वह मर गया। इस दृष्टि से केवल मैं धार्मिक हूँ।"

—आइन्स्टाइन

धर्म आत्म सम्बद्ध होते हुए भी समाजमूलक वस्तु के रूप मे शताब्दियों से जन जीवन मे प्रतिष्ठित रहा है। विज्ञान का भौतिक जगत् से सम्बद्ध होते हुए भी धर्म के क्षेत्र मे इसका प्रभाव रहा है। धर्म की वास्तविक अभिव्यक्ति आचारमूलक परम्पराओ मे निहित है जो समाज की नैतिक सम्पत्ति है। उच्चतम आचार और विचारो द्वारा वासना क्षय ही धर्म का एक सोपान है। आचार विपयक परिस्थितियाँ परिवर्तित होती रहती है—उसका मुख्य कारण विज्ञान है। विज्ञान ने धर्म के वाह्य स्वरूप के अन्वेषण मे जो क्रांतिकारी रूप दिया है—वह मानव शास्त्र और समाज शास्त्र की दृष्टि से अनुपम है। पुरातन काल मे, वर्तमान अर्थ मे प्रयुक्त विज्ञान शब्द सार्थक न रहा हो, पर जहाँ तक इसकी भावमूलक परम्परा का प्रश्न है, इसका नैकट्य स्पष्ट है। समाजमूलक क्रांतियो का जो धर्म पर प्रभाव पडा है और जो अपेक्षित संशोधन भी करने पड़े है यह सब कुछ विज्ञान की ही मौलिक देन है, क्योकि विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन यापन करने वालो का अस्तित्व भी भौतिक जगत् पर ही निर्भर रहता आया है अत समाज से बद्ध वैज्ञानिक प्रयोगो को भी धर्म द्वारा समर्थन मिला है। जब हम ज्ञान की विशेष स्थिति को विज्ञान के रूप मे अगीकार करते है तो स्वत स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञान भी आत्मा का एक मौलिक गुण है। उपनिपद। मे 'एक से अनेक की ओर

प्रेरित करने वाली शक्ति' को विज्ञान कहा गया है। पौर्वात्य विज्ञान की परम्परा की जड़ें धम के आदिकाल तक बिखरी हुई ह। हाँ, कुछ काल एसा अवश्य व्यतीत हुआ कि विज्ञान का स्थान श्रद्धा ने ग्रहण किया, पर इससे हमारी सत्यान्वेषिणी वृत्ति को अधिक प्रोत्साहन नहीं मिला। विज्ञान एक एसी दृष्टि प्रदान करता है कि जिसके समुचित उपयोग द्वारा आत्म तत्त्व गवेषण के प्रशस्त क्षेत्र म भी क्रान्ति की जा सकती है।

तेरह

विज्ञान द्वारा सुख-समृद्धि

"विज्ञान मानव को मानव के निकट लाने का तथा मानव के लिए सम्पूर्ण सुख सामग्री जुटाने का एक चमत्कारपूर्ण प्रयत्न है। जो इसके विरुद्ध आचरण करता है वह विज्ञान को समझता ही नही।"

—*आइन्स्टाइन*

अनेक आशंकाओं के बावजूद आज मानवीय दृष्टिकोण विज्ञान के प्रति आशान्वित है। क्योकि इन्द्रिय सम्भूत सुखोपलब्धि के समग्र साधन वह जुटाता है। अतीत मे सम्राटो के लिए भी दुर्लभ साधन आज अकिंचनो के लिए भी सर्व सुलभ हो चले है। विज्ञान की चमत्कृतियाँ अद्‌भुत् है। टेलीविजन को ही लीजिए, हजारों मील दूर होने वाली प्रत्येक प्रक्रिया को जहाँ कही भी, वैज्ञानिक साधन उपलब्ध है, बैठकर देख सकते हैं। औद्योगिक सस्थान का व्यवस्थापक अपने कमरे से ही सस्थान की कार्यवाही का निरीक्षण कर सकता है। हीटर का 'प्लग' लगाते ही आपको गर्म-गर्म पानी तत्काल मिल जाता है।

आटा पीसने के लिए विज्ञान ने आपको पवन चक्कियाँ या कल चक्कियाँ प्रदान की हैं।

पानी दूर से ढोकर लाने की दिक्कत नही करनी पड़ती है। नल खोलते ही गंगा-यमुना की विमल जल-धारा आपको नहला देती है।

आप गर्मी से घबरा रहे है। बस, बटन दबाने की ही देर है, पखा फर-फर हवा करके आपको शान्ति प्रदान कर देगा।

भोजन बनाने के लिए धुएँ मे आँखो को कष्ट देने की आवश्यकता नहीं रही—फूँका-फूँकी नही करनी है। 'कुकर' मे खाद्य सामग्री डालते ही रसोई आसानी से तैयार हो जाती है।

विविध विषयक ज्ञान प्राप्ति के लिए विद्यार्थी को कागजों पर हाथ से लिखने और नकल करने की जरूरत नही। सौ, दो सौ या हजार पृष्ठो की

छपी छपाई पुस्तक सारी दिक्कत मिटा देती है।

हजारो लाखा रुपयो का जोड, बाकी, गुणा, भाग या अन्य किसी प्रकार का पेचीदा हिसाब करने के लिए आपको माथा-पच्ची नही करनी पडती। एक मिनट से भी कम समय मे गणक यंत्र आपका हिसाब कर देती है।

बेतार के तार से जमा हुआ रेडियो मनुष्य की चिंता और व्यग्रता क्षण भर मे काफूर कर देता है। सकट के समय वह मनुष्य के लिए बहुत लाभप्रद सिद्ध होता है। जब कोई जहाज खतरे मे फँस जाता है तो क्षण भर म उसकी सूचना पहुँचाई जा सकती है और तब समय पर सहायता पहुँच सकती है। खोये हुए बच्चो या आदमियो का पता चलाने मे रेडियो बडा लाभदायक सिद्ध हुआ है।

सिनमा विनान का एक महान वरदान है, जिसने मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रो म काफी उथल-पुथल मचा दी है। सिनेमा के प्रभाव को नैतिकता के मापदण्ड से नापने का यह प्रसग नही है। उसका नतिक प्रभाव चित्र निर्माताओ की अभिरुचि पर निभर है। विज्ञान उस दायित्व से मुक्त है। विनान की कृतार्थता साधन प्रस्तुत कर देने म है, सदुपयोग या दुरुपयोग की बात उसके प्रयोक्ताओ पर अवलम्बित है।

विद्युत शक्ति की गवेषणा विनान की बहुत बडी सफलता है। इसका प्रयोग आज सवत्र हो रहा है—घरो मे प्रकाश करने के लिए तथा वस्त्रों को प्रेस करने, खाना पकाने, पानी गम करने, कमरो को साफ रखने, भवनों को वातानुकूलित करने, पखे चलाने, रेडियो, सिनेमा तथा बडे-बडे यत्रो को चलाने म किया जाता है। इसकी बदौलत मनुष्य की अनगिनत कठिनाइयाँ दूर हो गई हैं, जो कष्टप्रद और समयनाशक थी। इसी की सहायता से मनुष्य न बडी-बडी और गहरी नहर खोदी हैं, बाँध और पुल बनाये हैं। जहाज, मोटरें, रेलें, विमान और अन्य सैकडो वस्तुओ का निर्माण इसी के कारण हो सका है। बिजली का हथौडा और क्रेन क्या अद्भुत काय कर दिखलाता है, यह किसी से छिपा नही है।

वाणिज्य और उद्योग के क्षेत्र म विनान ने जसे नूतन सृष्टि ही खडी कर दी है। हाथ-करघो की अपेक्षा मिला म बारीक और मनोरम वस्त्रा का अल्प समय म ढेर का ढेर तैयार हो जाता है। अयाय असख्य वस्तुएँ बडी सफाई

और शीघ्रता से बनने लगी है। आधुनिक लांडरी मे एक घण्टे मे दो हजार कपड़े धोये जा सकते हैं। एक कमीज की तह करने मे एक मिनिट से ज्यादा समय नही लगता। मुद्रण यन्त्रो ने भी आश्चर्यजनक कार्य कर दिखलाये है। आज के मुद्रणालय एक घण्टे मे समाचार पत्रो की हजारो-लाखो प्रतियाँ मुद्रित कर देते है। ऐसी मशीने हैं जो उन पत्रो की तह करती जाती है, पते अकित करती जाती हैं, पैकेट बनाती जाती है, और टिकिट भी लगाती जाती है।

आज ऐसी मशीनो का भी प्रयोग किया जाता है जो बड़ी-बडी रकमो का जोड़ लगा सकती है, अनेक प्रश्नो को हल कर सकती है, व्याज फैला सकती है। ऐसी भी मशीने है जो विनिमय की निश्चित दर पर एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा मे परिवर्तित करने का हिसाब लगा सकती है।

'डिक्टाफोन' ने लेखको को कितनी सुविधा उत्पन्न कर दी है। अनुवादको की कठिनाइयों को दूर करनेवाला टाइपराइटर भी आज मौजूद है जो एक भाषा का करीब आठ भाषाओ मे अनुवाद कर देता है।

यूरोप और अमेरिका के देश अब कृषि के लिए प्रकृति के मुहताज नही रहे। वहाँ कृत्रिम वर्षा का भी प्रयोग किया जाने लगा है। पशुओं द्वारा चलने वाले हलो के स्थान पर ट्रैक्टरो का प्रयोग तो अब पुरानी-सी बात हो गई है। प्राकृतिक खाद के बदले रासायनिक खाद, जो अत्यधिक उपजाऊ होती है, तैयार होने लगी है। वहाँ खेती-बाड़ी के प्रायः सभी कार्यो मे यंत्रो का उपयोग होता है। फसल काटने की एक मशीन, जो 50 हॉर्स पावर से चलती है और जिसमे 30 फुट तक लम्बी दराती होती है, बड़ी शीघ्रता से फसल काटती है और प्रतिदिन करीब हजार, डेढ हजार बोरी अनाज भी निकाल देती है।

ऐसी मशीनो का भी आविष्कार हो चुका है जो एक घंटे मे 2400 रोटियाँ बना सकती है, 2400 बोतलो मे दवा भर सकती है और 3000 बोतलो को डाट लगा कर बद कर देती है।

पहले एक मनुष्य दिन भर चोटी मे एड़ी तक पसीना बहाकर कुछ मन मिट्टी खोद पाता था, आज मशीन की सहायता से, उतने ही समय मे, 1500 से 2000 टन तक मिट्टी खोदी जा सकती है।

मनुष्यो की सुविधा के लिए नदियो के प्रवाह तक बदल दिये गये है।

भवन निर्माण कला ने भी एक नूतन ही रूप धारण कर लिया है। सकड़ों मंजिल के गगनचुम्बी भवन कुछ ही महीनों में तयार हो जाते हैं।

विश्व की जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि होने के कारण जटिल बनी खाद्य समस्या को भी विज्ञान ने बहुत हद तक सुलझाने का प्रयत्न किया है। सिंचाई के लिए नहरें और नलकूप खोदकर ऐसे भूभागों तक पानी पहुँचाया गया है जो युगों से बंजर पड़े थे।

जलविद्युत् भी कृषक के लिए एक महान् वरदान सिद्ध हुई है। आज कृषि क्षेत्र में बीज बोने से लेकर फसल काटने तक के सभी कार्य वैज्ञानिक उपकरणों से होते हैं। परिणामतः मनुष्य की अनकानेक मुसीबतें कम हो गई हैं।

आधुनिक युग में नगर दैत्य की तरह विशाल से विशालतर बनते जा रहे हैं और ज्यों-ज्यों उनमें जनसंख्या की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों स्वच्छता की समस्या भी महत्त्वपूर्ण बनती जाती है। मगर विज्ञान ने इस समस्या के समाधान में भी पूर्ण योग प्रदान किया है। जल के छिड़काव के साधन, जमीन के नीचे की नालियाँ तथा फ्लश—यह सब विज्ञान के ही उपहार है।

प्राचीन काल में मनुष्य पैदल या घोड़ा, ऊँट, हाथियों अथवा बैल गाड़ियों आदि से यात्रा करता था। यात्रा के यह सब साधन मन्थरगति, कष्टप्रद एवं समयसाध्य थे। उन्नीसवीं शताब्दी में भाप के इंजन के आविष्कार ने मानवीय सभ्यता के क्षेत्र में एक नवीन और अद्भुत युग की सृष्टि की। पशुओं द्वारा खींची जाने वाली गाड़ियों का स्थान रेलगाड़ियों ने ले लिया अब तो मनुष्य भूत की तरह पृथ्वी तल पर सरपट दौड़ लगा सकता है। व्योमयानों ने तो विद्युत्चालित गाड़ियों को भी मात कर दिया है।

एक दिन मनुष्य आकाश में उड़ने के सपने देखा करता था। यूनानी पौराणिक कथाओं में डाइडलस की कथा कुछ इसी प्रकार की है। वह अपने पुत्र इकारस के साथ क्रेट से उड़कर इटली पहुँचा था। कथानक के अनुसार कारीगर ने अपने बाहुओं पर पक्षियों के पंख बाँध रखे थे।

भारतीय साहित्य में भी व्योमयानों के अनेक वर्णन मिलते हैं। सैकड़ों जन ग्रन्थों में विद्याधर नामक एक मानव जाति का उल्लेख है, जिसके पास

आमतौर पर व्योमयान होते थे। रामायण मे भी ऐसा ही एक उल्लेख उपलब्ध होता है। सुना जाता है कि अभी कुछ दिन पूर्व संस्कृत भाषा का एक ग्रन्थ मिला है, जिसमें व्योमयान बनाने की विधि का वर्णन किया गया है। इन सब बातों से, इस विचार को बल मिलता है कि किसी जमाने में भारतीय 'विद्याधर' (वैज्ञानिक) व्योमयानो का प्रयोग करते थे। वस्तुतः यह विषय अन्वेषण की अपेक्षा रखता है। कुछ भी हो, आज के मानव ने वायुयानो के चमत्कार को प्रत्यक्ष देख लिया है। अब वह स्वयं पक्षी की भाँति आकाश में उड़ लेता है। एक बड़े विमान मे 80 तक यात्री बैठ सकते हैं, चालक अलग। विमानो मे शौचालय, भोजनगृह आदि की सुन्दर व्यवस्था रहती है। 1800 मील प्रति घण्टा गति करने वाले वायुयान भी बनने लगे हैं। अतएव अत्यधिक लम्बी उडाने भी अब कठिन नही रह गई हैं। कुछ ही घण्टो मे समग्र विश्व का भ्रमण करने की योजना भी बन रही है। यही नही, यूरोपीय देशो मे ओनिथेप्टर नामक एक ऐसा यत्र भी बन रहा है, जिसकी सहायता से प्लास्टिक के पंख लगाकर मनुष्य स्वतः चिड़िया की तरह उड़ सकेगा, उसके लिए न किसी हवाई अड्डे की आवश्यकता होगी और न किसी टीमटाम की।

आज के दैत्याकार विराट् और अद्भुत्-क्षमताशाली यंत्रो ने मानवीय जीवन मे एक भूचाल-सा उत्पन्न कर दिया है। किसी बड़े कारखाने मे जाकर आप देखेंगे तो रोमाच हो उठेगा, ऐसा अनुभव होने लगेगा, मानो मनुष्य ने भूतो को ही वश मे कर लिया है।

आज का मनुष्य धरती और आकाश मे ही नही वरन् समुद्र के वक्षस्थल पर भी अप्रतिहत गति से मछलियो की भाँति विचरण कर रहा है। आधुनिक जल जहाज पुरानी समुद्री नौकाओ की तरह हवा और लहरो पर निर्भर नही हैं और न तूफानो से ही उन्हे खतरा है। ये जहाज इतने विशाल होते है कि उनके भीतर छोटा-मोटा नगर समा सकता है। इनमे एक साथ हजारो लोग यात्रा करते हैं। सहस्राधिक टन की सामग्री भी ढोई जा सकती है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय मे भारत से इगलैण्ड पहुँचने मे एक वर्ष लगता था जब कि आज तीन सप्ताह पर्याप्त है। अन्तर्प्रान्तीय व्यापार, वाणिज्य सम्बन्धी वस्तुएँ प्रचुर परिमाण मे जलयानो द्वारा सरलता से एक

निःसन्देह अभूतपूर्व है।

रचनात्मक क्षेत्र मे यद्यपि आश्चर्यजनक आविष्कार विज्ञान द्वारा सम्पन्न हुए हैं, पर दुर्भाग्य की बात है कि विनाशकारी क्षेत्र मे भी इसकी सफलता कल्पनातीत है। प्रथम महायुद्ध के समय यौद्धिक विमानो का आविष्कार हुआ, द्वितीय महायुद्ध मे आंशिक परिमार्जन किया गया और अद्यतन युग मे तो अत्यन्त शीघ्रगामी वायुयानो की सृष्टि हो गई जिसकी कल्पना से ही हृदय प्रकम्पित हो जाता है। असैनिक उड्डयन मे भी बी० ओ० सी० टी० जैट पद्धति के वायुयान 500 मील की यात्रा प्रति घण्टे मे कर लेते है। जर्मनो ने द्वितीय महायुद्ध के समय मे बिना चालक के तीव्रगामी यानो की सृष्टि की थी जो 20 मील की ऊँचाई तक उड सकते थे। अमेरिका के सुपरफोर्टरेस व्योमयानो की न केवल उतनी गति है अपितु उन मे तो व्योम मे तेल तक पहुँचाया जाता है। दूरमारक तोपे, विमानभेदी तोपे, पनडुब्बियाँ और तारपीडो नौकाएँ आदि उल्लेखनीय हैं। रेडार के आविष्कार से आज का नागरिक अपरिचित नही। विषाक्त वायु व कीटाणुयुक्त वायु का आविष्कार सहारकारी विज्ञान की देन है। हीरोशिमा मे गिराये गये अणुबम की सहारलीला को अभी हम भूले नही हैं। वर्तमान मे अमेरिका, रूस और इग्लैण्ड ने भी परमाणु बम तथा हाइड्रोजन बम बना लिये है। ये अस्त्र बहुत ही खतरनाक और मानव व मानवता के नाश के लिए पर्याप्त है। रूस द्वारा परीक्षित टी-एन-टी बम तो विनाशकारी अस्त्रो मे उपलब्ध अस्त्रो में सर्वोच्च हैं। अब तो अणु द्वारा मानव जीवन की आवश्यकता की पूर्ति में प्रयुक्त यन्त्रोद्योग के लिए प्रयास प्रारम्भ हो चुके हैं।

इस प्रकार विज्ञान के सर्वांगीण व सर्व क्षेत्रीय विकास ने मनुष्य के श्रम की बचत की है और सुख सुविधाएँ बढाई है।

चौदह

विज्ञान के सहारे प्राकृतिक शक्ति का उपयोग

प्राचीन काल का अविकसित मानव पृथ्वी, जल, वायु विद्युत, आकाश, सामुद्रिक ज्वार, बादल आदि प्राकृतिक वस्तुओं को देख कर आश्चर्यान्वित हो जाता था। यह सब उसकी विचार शक्ति से परे की चीजें थी। वह इन लोकोत्तर शक्ति के प्रतीक मानता था। तभी तो ये तत्व देवता के समान पूजा-अर्घ्य के पात्र समझ जाने लगे थे। उन दिनों इनका समुचित उपयोग न होता था। अद्यतन मानव विज्ञान की ज्योति मे इन्हे पहचान गया और ये देवसम समझे जाने वाले इन प्राकृतिक रहस्यों का उपयोग सम्पादन कर चुका है। आज आंशिक प्राकृतिक शक्तियें उन रहस्यों का प्रभाव मानव पर नही रहा अपितु वे सब मानव के नियंत्रण में हैं।

विज्ञान का प्राकृतिक शक्तियों पर नियन्त्रण भी एक उद्देश्य है जिसके सहाय्य से मानव प्रकृति पर विजय प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है। वस्तुत दोनों ओर से विज्ञान की सहायता मानव को प्राप्त है। एक ओर से तो विज्ञान विविध आविष्कार अन्वेषण म मदद देता है और दूसरी ओर वह सहायता प्राप्त है, जिसका अभिप्राय विविध शक्तियों पर नियन्त्रण करना है। रेलवे इजन, पनडुब्बी, नौका, विमान, टेलीफोन, टेलीविजन और रेडियो आदि के आविष्कार प्रकृति पर विजय प्राप्ति के प्रतीक है। जल, वायु, ज्वार, आदि प्राकृतिक शक्तियों पर मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाने वाला नियन्त्रण दूसरी कोटि मे आता है।

अब हम देखना यह है कि आधुनिक विज्ञान की सहायता से मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों के रहस्य को जानकर किस प्रकार उसे प्रयुक्त कर सका है। जहाँ तक प्राकृतिक साधनो का प्रश्न है, अधिकाश साधन कितना भी काल व्यतीत हो जाय, मगार से समाप्त होने वाले नही हैं। उनका रूपान्तर, देशान्तर या स्थानान्तर भले ही हो जाय।

भारतीय वेद वेदाङ्गादि साहित्य में ही सूर्य का यशोगान किया है, अपितु ठेठ लोक साहित्य तक में सूर्य-कीर्ति की परपरा आज भी अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। आन्तरिक जगत के क्रमिक विकास मे काम आने वाली सूर्य शक्ति की उपयोगिता से भारत का बच्चा-बच्चा परिचित रहा है। पर सूर्य की प्राकृतिक उपयोगिता किसी भी दृष्टि से किसी भी अश मे कम नही है। जब वैज्ञानिक सम्पूर्ण शक्तियो पर नियन्त्रण करने के लिए कटिबद्ध थे तो इस प्रत्यक्ष और अत्यधिक कार्यशील शक्ति के प्रति कैसे उदासीन बने रहते। फलस्वरूप केलिफोर्निया के दक्षिण पोसडीना मे दश अश्व शक्ति का एक वॉइलर सूर्य ताप निर्मित वाष्प से चलता है, जिससे एक मिनट मे 1400 गैलन जल निकाला जा सकता है। व्यय भी बहुत अल्प आता है। रूस ने सूर्य-किरणोत्पन्न विद्युत् शक्ति के प्रयोगो मे आशातीत सफलता प्राप्त की है। वस्तुत पृथ्वी के प्रत्येक ऊष्ण कटिबन्ध प्रदेश मे सूर्य ताप की शक्ति का अधिकाधिक उपयोग किया जा सकता है। ईंधन के रूप मे भी सूर्य शक्ति का प्रयोग होता है।

आज जिस शक्ति की ओर वैज्ञानिको का बहुत कम ध्यान गया है वह है ज्वार शक्ति। समुद्र और बडी नदियो मे उठने वाले ज्वारो का उपयोग अपेक्षाकृत कम हुआ है। यदि इसका समुचित उपयोग बड़े विस्तृत रूप से किया जाय तो बहुत बड़ा कार्य हो सकता है। अमेरिका और इग्लैण्ड तथा कुछ अन्य पश्चिमी देशो ने ज्वार की शक्ति को एकत्रित कर उसका समुचित उपयोग अच्छे ढग से किया है और अब इसकी शक्ति की तुलना भविष्य में जल विद्युत् के मुकाबिले मे टिक सकेगी ऐसी पूर्ण सम्भावना है।

प्राकृतिक शक्तियाँ अनेक है। दिनानुदिन विज्ञान द्वारा इन पर प्रभुत्व प्राप्ति के पुरुषार्थ वृद्धिगत होते जा रहे है। सम्भव है ज्ञात शक्तियो द्वारा ही अज्ञात शक्तियो की उपलब्धि का सूत्रपात भविष्य मे हो जाय, जिनसे सामाजिक जीवन मे और भी अधिक सुतुलन स्थापित किया जा सके। आणविक शक्ति का अद्यावधि मानवोपयोगी तथ्य की दृष्टि से उतना अधिक विकास नही हो पाया है। पर जहाँ तक ध्वसात्मक साधनो का प्रश्न है अणुशक्ति सर्वाधिक सफलता प्राप्त करती जा रही है। शक्ति वही है जो निर्माण को गति दे। ध्वस की ओर गतिमान शक्ति अपनी "शक्ति सज्ञा" को कहाँ तक

सुरक्षित रख सकेगी यह विचारणीय है। रूस, इंग्लैण्ड और अमेरिका में अणुशक्ति का प्रयोग कल-कारखाना में होने लगा है और भारत भी एतदर्थ प्रयत्नशील है। यदि मानव जीवन के उपयोग में आने वाली वस्तुओं का समुचित निर्माण अणुशक्ति द्वारा होने लगे तो इंधन की बहुत बडी बचत होगी, जो राष्ट्र की भौतिक निधि है। अब तो मानव ने अपने भौतिक जीवन के विकासार्थ प्राकृतिक शक्तियों का जो उपयोग व विकास किया है वह चरम कोटि तक पहुँच चुका है। अतः अब तो आवश्यक यह है कि विध्वंसकारी शक्तियों का उपयोग सुख शान्ति के सृजन में हो, जिससे मानवता शताब्दियों तक अनुप्राणित होती रहे। अणुशक्ति की सहायता से अब तो रोग मुक्ति के अतिरिक्त मृत्यु पर विजय पाने की आशा की जा रही है। कहा नहीं जा सकता कि वैज्ञानिकों का यह स्वप्न वैज्ञानिक दृष्टि से कब साकार होगा?

पन्द्रह

आधुनिक विज्ञान द्वारा मानव-सेवा

आज के उन्नत विज्ञान ने मानव-जीवन और समाज के प्रत्येक क्षेत्र को न केवल स्पर्श ही किया है अपितु सर्वांगीण विकास की सुदृढ़ परम्परा भी कायम की है। धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे भी नया दृष्टिकोण प्रदान करते हुए प्राचीनतम अनिवार्य रहस्यो के प्रति भी समीचीन दृष्टि दी है। राष्ट्रीय वैषम्य, दूरत्व, निर्यात आदि कई तथ्यों में सामजस्य स्थापित किया है। आध्यात्मिक दृष्टि से एक मनुष्य वर्षो तक साधना कर जो फल प्राप्त करता था, उसके प्रसार और विकास मे दीर्घकाल की अवधि अपेक्षित थी। पर आज के वैज्ञानिक युग मे एक व्यक्ति की अल्पकालिक साधना लाखो का मार्ग प्रदर्शन करती है, जीवन मे साम्य स्थापित करती है और इसका प्रसार भी अत्यन्त शीघ्र विश्वव्यापी बन जाता है। हम यह नही चाहते कि विज्ञान द्वारा प्राप्त फलो को एक-एक करके गिनाएँ। यदि एक शब्द मे कहा जाय तो विज्ञान मानव जाति के लिए एक वरदान है। वह अभिशाप तब प्रमाणित होता है जब वह सृजन का पथ छोड़कर विध्वस की ओर गतिमान होता है। वह शान्ति का सन्देश दे और वैषम्य मे साम्य स्थापित कर सके तभी हमारे लिए वह वरदान है। आइन्स्टाइन ने ठीक ही कहा है कि "विज्ञान विध्वस के लिए नही है, जो राज्य विज्ञान का दुरुपयोग करता है और उसका उपयोग दूसरो को डराने या अन्य पर प्रभाव जमाने के लिए करता है, वह न केवल विज्ञान का, अपितु वैज्ञानिको की आत्मा का शोषण करता है।"

सोलह

विज्ञान के नये उच्छ्वास

मानव ही क्या, प्राणीमात्र में जिजीविषा और विजिगीषा मुख्यतः दो वृत्तियाँ कार्यशील हैं। अर्थात् जीने की और जीतने की इच्छा। दीर्घकाल तक जीने की और ऐश्वर्यपूर्वक दूसरों पर आधिपत्य जमाने की स्वाभाविक इच्छा मनुष्य में पाई जाती है। जीने की इच्छा ही जीतने की इच्छा को प्रोत्साहन देती है। स्वल्प जीवन के लिए मनुष्य आकाश, पाताल एक करता है। समस्त वैज्ञानिक आविष्कार दीर्घकाल तक सुखपूर्वक जीवन यापन के परिणाम हैं। मनुष्य दीर्घ और व्यापक दृष्टि का त्याग कर जब केवल अपनी निकटवर्ती दुनिया को संकीर्ण रूप में सोचता है तब उसके सम्मुख संसार की अन्य जिन्दगियाँ नगण्य मालूम होती हैं। जीवन की आकांक्षा सभी को होती है, पर वह आक्रामक न होनी चाहिए। स्वजीवन के लिए अन्य को कष्ट पहुँचाना हिंसा है। भले ही कभी-कभी परिस्थितिवश इसमें सफलता प्राप्त हो भी जाय, पर यह परम्परा प्रशस्य नहीं।

अनादिकाल से इन दो मुख्य वृत्तियों को लेकर सृष्टि के रहस्यों की खोज के लिए मानव प्रयत्नशील है। शताब्दियों के श्रम से जल और वाष्प को अपना अनुचर बनाकर उनका उपयोग आराम के लिए किया। अठारहवीं शताब्दी तक भाप का दौर-दौरा रहा किन्तु उन्नीसवीं सदी में इसका स्थान विद्युत् ने ग्रहण कर लिया और मानवीय जीवन का वह एक अंग बन गई। समय की गति को प्रगति मिली। मनुष्य अपनी सुरक्षा के लिए अधिक सावधान रहने लगा। वर्षों का कार्य घण्टों में पूर्ण होने पर भी मानव अशान्त था। नित नवीन कल्पना उसके हृदय-मन्दिर में आकर्षण और जिज्ञासा की ज्योति जगाता ही रहा। पुरुषार्थ जारी रहा, परिणाम-स्वरूप अणु तक उसकी शोध बुद्धि पहुँच गई। अणु की शोध ने मानव को गर्वोन्मत्त बना दिया। उसने अनुभव किया कि विश्व की अतुल सम्पत्ति

और शक्ति उसने प्राप्त कर ली है। अणु द्वारा उद्जन बम और राकेट चालित प्रक्षेपणास्त्र भी बना लिए है। उनके अतिरिक्त कई छोटे-बड़े विध्वंसक उपकरण भी तैयार किये, जिनका अन्तर्भाव अणुशक्ति शोध में हो जाता है। यह सब विजिगीषा का ही परिणाम है।

परमाणु शक्ति और परमाणु बम के सम्बन्ध मे उच्च कोटि के वैज्ञानिकों मे ही नहीं, अपितु सामान्य जन समाज मे भी बड़ी चर्चा है। सभी यह मानते है कि यह एक भयकर हथियार है। यह बम जब नही बना था उसके पहले अर्थात् तेरहवी शताब्दी में लकड़ी, तेल, कोयला आदि पदार्थों द्वारा शस्त्रोपयोग पद्धति का प्रचलन था, पर परमाणु शक्ति ने सबको परास्त कर सर्वोच्च शिखर पर अपना स्थान प्रतिष्ठापित किया है। अणु इतनी छोटी इकाई है कि जिसे दो भागो मे विभक्त नही किया जा सकता। अणु-बम अत्यन्त सूक्ष्म अणुओ का सग्रह मात्र है जिसका सूर्य बनता है। इलेक्ट्रॉन और न्यूट्रॉन के विभक्त करने पर शक्ति और प्रकाश खीचा जा सकता है। परमाणु के बाहरी भाग मे इलेक्ट्रॉन तीव्र गति से चक्कर काटते हुए किसी भी समीप आने वाले पर पदार्थ को धक्का देकर बाहर कर देते है। उनसे बहुत दूर परमाणु के गर्भ मे नाभिकण है जो प्रोटोन और न्यूट्रॉन से बना है। इलेक्ट्रॉन यदि ऋण विद्युत् है तो प्रोटोन धन विद्युत्, और न्यूट्रॉन न धन बिजली है न ऋण बिजली। न्यूट्रॉन और प्रोटोन की भूत मात्रा प्रायः समान है। प्रथम परमाणु हाइड्रोजन सबसे छोटा और बनावट में सरल अर्थात् उसे बाहर पहरा देने के लिए सिर्फ एक इलेक्ट्रॉन और गर्भ मे प्रोटोन होता है। विशेष हाइड्रोजन दो और तीन प्रोटोन वाले भी होते है हाइड्रोजन के बाद अगला परमाणु हीलियम है, जिसके बाहर दो इलेक्ट्रॉन और गर्भ मे दो प्रोटोन होते है। इसकी भूत मात्रा चार है। इस भारीपन का कारण इसके गर्भ मे अवस्थित दो न्यूट्रोन हैं। सबसे हल्की धातु लीथियम के भीतर तीन धन बिजली (Proton) है, लेकिन उसकी भूत मात्रा सात है—बाकी चार भूत मात्रा चार न्यूट्रॉनो के कारण है। यह तो ज्ञात ही है कि एक प्रोटोन की भूत मात्रा इलेक्ट्रॉन से अठारह सौ गुनी होती है।

नाभिकण की शक्ति अपार है। यद्यपि वैज्ञानिक इससे परिचित तो थे पर इसकी प्राप्ति के साधन अज्ञात थे। सन् 1930 मे चडविक ने न्यूट्रोन

का पता लगाने का प्रयास किया।[1]

अणु की खोज के विषय में पर्याप्त मतभेद प्रचलित हैं। कुछ लोगों का कहना है कि सन् 1939 में जर्मनी में ह्वान्ह् नामक एक विज्ञानवेत्ता ने सर्व प्रथम इसका सैद्धान्तिक रूपेण आविष्कार किया। अणुबम का रहस्य भी जर्मनी की अपनी निजी सम्पत्ति थी, किन्तु यहूदियों के साथ हिटलर के दुर्व्यवहार ने उन्हें अमेरिका को यह रहस्य विवश होकर बताने को बाध्य किया। फलतः यह कहा जाता है कि सर्वप्रथम अणुबम के आविष्कार का श्रेय अमेरिका का है।

कतिपय विज्ञों का यह भी मन्तव्य है कि यद्यपि हिटलर के परामर्श से जर्मन वैज्ञानिकों ने इसकी गवेषणा कर अणुबम का सृजन तो कर लिया था पर जर्मनी की आकस्मिक पराजय के कारण इसे वे प्रयुक्त करने में समर्थ न हो सके, और मित्र राष्ट्र इसे उठाकर ले गये। एक स्वर यह भी सुनाई पड़ता है कि अमेरिका, ब्रिटेन और कनाडा के वैज्ञानिकों की शोध का ही परिणाम अणुबम है।

जर्मन युद्ध के समय अमेरिका भी अणुबम के अन्वेषण में व्यस्त था, पर वह अपने सारे रहस्यों को छुपाये रखता था। 1942 में तो अमेरिका में इसके निर्माण की दौड़ लग रही थी उसे यह ज्ञात हो चुका था कि युरेनियम के विदरण का आविष्कार एक जर्मन महिला डा० लीज माईट्नर ने किया है और अब परमाणु बम के लिए वह प्रयत्नशील है। 2 दिसम्बर, 1942 से बहुत तत्परता के साथ कार्य प्रारम्भ होने पर पहले दिन के प्रयोग में केवल आधी वाट शक्ति उत्पन्न हुई जिससे बिजली का छोटा लट्टू भी नहीं चलाया जा सका था। पर पुरुषार्थ के बल पर 12 दिसम्बर तक 200 वाट शक्ति उत्पन्न करने में सफलता मिली। इसी समय वैज्ञानिकों ने काम रोक दिया क्योंकि विदरण द्वारा रेडियम जैसी घातक किरणें पैदा होने लगी थी। इन्हीं अनुभवों से ज्ञात हुआ कि प्लूटोनियम बनाया जा सकता है और इस क्रिया में जो भयंकर किरणें उत्पन्न होती हैं, जब तक उनसे अपनी निजी रक्षा का समुचित प्रबन्ध न कर लिया जाय तब तक इस प्रयोग को आगे बढ़ाना संकटापन्न स्थिति उत्पन्न करना है।

१ सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ पत्र-८

ससार मे यह नियम रहा है कि किसी कठिन कार्य को देखकर पुरुषार्थी डरता नही है वह सतत प्रयत्नो द्वारा अधिक उत्साह से कार्यरत्त रहकर समस्या को समाधान के रूप में परिणत कर ही देता है। जहाँ सर्व साधन सुलभ हो और परिस्थितियाँ अनुकूल हो वहाँ कोई कार्य असाध्य नही रहता। अमेरिका ने प्रचुर अर्थ व्यय कर इस क्षेत्र मे सर्वांगीण अनुभव रखने वाले विद्वान् व यन्त्रशास्त्रियो को प्रचुर वेतन दे न्यूमेक्सिको की भूमि के एक कोने पर योस अल्मोस स्थान पर परमाणु बम की प्रयोगशाला बनाई। 14 अप्रैल, 1943 को हारवर्ड विश्वविद्यालय का साइक्लोट्रोन वहाँ पहुँचाया गया।

चाहे किसी भी राष्ट्र द्वारा इस बम का आविष्कार हुआ हो, हमे उसका निर्णय नही करना है। पर इतना सच है कि ससार को अणुबम का सर्वप्रथम ज्ञान 1945 मे हुआ।

दूसरा महासमर समाप्ति पर था। रूस तथा मित्र राष्ट्रो के सामूहिक प्रयत्न से जर्मनी की पराजय हुई। पूर्व मे जापान अपनी अतुल शक्ति से इनसे मोर्चा ले रहा था। जापान की इस दुर्दम्य शक्ति को रोकने के लिए 6 अगस्त, 1945 को हीरोशिमा पर अणुबम फेका। ढ़ाई लाख की जन सख्या वाला वह नगर भस्मिभूत हो गया। मकानों मे लगा हुआ लोहा पानी की तरह बहने लगा, इसके तीन दिन बाद ही 9 अगस्त, 1945 को दूसरा बम नागासाकी पर गिराया गया। यहाँ भी वही मृत्यु-ताण्डव हुआ जिसकी कल्पना नही कर सकते। चार मील के क्षेत्र मे कोई प्राणी नही बच सका। भाग्यवश जो बचे वे भी अपाहिज या विकलांग हो गए। फलस्वरूप जापान ने शस्त्रास्त्र रख दिए। इस क्रूरतम घटना से मानव के माथे पर जो कलंक का टीका लगा वह अभी तक नही धुला है। इन बमो के विस्फोट के कारण वर्षो तक वहाँ वनस्पति उत्पन्न नही हो सकेगी। 80 फीट नीचे तक की पृथ्वी जल गई चल-अचल वस्तुएँ पिघलकर लावा बन गई। 100 मील तक इसका प्रभाव पहुँचा।

विज्ञान का दूसरा प्रलयकारी उच्छ्वास है—उद्जन बम (हाईड्रोजन बम), जिसकी ध्वसात्मक शक्ति सापेक्षत दो सौ गुनी अधिक है। इसके निर्माण मे चार-पाँच करोड रुपयो का व्यय होता है। इसकी शक्ति दस

लाख टन बारूद के समान है और दस लाख टन बारूद की शक्ति एक मगाटन के समान है। कहा जाता है विगत दो महायुद्धों में भी इतने बारूद का व्यय नहीं हुआ होगा जिसका मूल्य लगभग बीस अरब रुपए होते हैं। एक बात और है, बारूद से तो हवा का वेग और अग्नि विस्फोट ही होता है जबकि उदजन बम में इन दोनों के अतिरिक्त रेडियो एक्टीविटी—एक तीसरी शक्ति होती है जो विनाशकारी तत्त्वों को फेंकती है। दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात् आविष्कृत होने से अभी तक इसका युद्ध भूमि में प्रयोग नहीं हुआ। सम्पूर्ण सृष्टि विनाश के लिए ऐसे दो चार बम ही पर्याप्त हैं।

इस बम का सन् 1953 में सर्वप्रथम पता चला जब रूस में एक भयंकर विस्फोट हुआ था। अमेरिका की मान्यता है यह उद्जन बम ही था। अब तो इंगलैण्ड और अमेरिका ने भी इसका आविष्कार कर लिया है। 1955 में प्रशान्त महासागर के निकटस्थ द्वीप पर अमेरिका ने इसका प्रथम परीक्षण किया था जिससे सारा भूभाग नष्ट हो गया। परीक्षण अत्यन्त गोपनीय था। कहा जाता है इस विस्फोट के कुछ ही क्षणों बाद धुएँ की लपटें काले एवं सफेद बादल के रूप में चालीस हजार फुट की ऊँचाई तक पहुँच गई। ये बादल दस मील ऊँचे तथा सौ मील में व्याप्त हो गए। इस बम की अत्यन्त भयंकरता का पता तब लगा जब इसका तीसरा परीक्षण बिकिनी द्वीप में 1 जुलाई, 1956 को किया गया। एक प्रत्यक्षदर्शी संवाद-दाता ने इन शब्दों में अपना अनुभव व्यक्त किया है—

> "रात्रि के अंधकार में अठारह मील पर एक आल्पिन के आकार का लालिमा लिये हुए पीला प्रकाश दिखाई पड़ा। यह परमाणु बम के विस्फोट की पहली ज्वाला थी, जो धीरे धीरे बढ़ती और फलती एक महान् अग्नि गोल के रूप में परिणत हो गई। प्लूटोनियम के परमाणु टूट टूट कर के यह दृश्य उपस्थित कर रहे थे। यह सब कुछ एक सेकिण्ड के दस लाखवें हिस्से में हो गया। महान् अग्नि गोला की ज्वाला फूटती ऊपर की ओर बढ़ती गई। उसके मुण्ड में परमाणु बम का विशेष चिन्ह मशरूम जैसा सफेद एवं महान् छत्रक निकला। चक्कर काटते बादलों के छोरों पर चित्र विचित्र रंग दिखलाई पड़ रहे थे—यह लाल, पीले और नारंगी रंग सभी जगह एक दूसरे से मिश्रित होते सदा बदलते

परीक्षक बोट खतरनाक क्षेत्र मे जा पहुँचे। दोपहर को पत्रकारों के लिए भी आज्ञा मिल गई। वहां कुछ डूबे, कुछ उलटे सैकड़ो पोत दिखाई पड़ रहे थे। विमानवाहक इण्डिपेण्डेंस नये और आधुनिक युद्ध-पोतों मे से था, वह भी परमाणु बम की सनक का शिकार हुआ। पीछे पता लगा कि इण्डिपेण्डेंस यद्यपि ध्वस्त हो गया था तो भी डूबा नहीं। पत्रकारो की आँखे सभी जहाजो मे जीवन के चिह्न ढूंढ रही थी और देखना चाहती थी कि परमाणु बम के वाताघात से सुअरो, बकरियों और चूहो मे से कौन बचा। पहले जीवधारी आक्रमणकारी वाहक फालोन के ऊपर दिखाई पड़े। यह पोत नेवादा से एक मील दूरी पर था। सम्वाददाताओं ने वहां दो बकरियो को देखा जिनमे एक कठघरे पर खडी थी, उसकी दाडी हवा मे हिल रही थी, दूसरी लेटी हुई थी। उनकी आँखें चोंधियायी-सी थी। दोनो जानवरों पर आघात का प्रभाव दिखलाई पड रहा था। विशाल विमानवाहक 'सरातोगा' परमाणु बम के वाताघात की पहुँच से दूर था। उसके ऊपर के प्राणी अच्छी अवस्था मे थे। प्रथम विकिनी परीक्षा ने यह सिद्ध कर दिया कि परमाणु बम के पतन स्थान से दो मील दूर पर 'सरातोगा' जैसे पोत सुरक्षित रह सकते है। युद्ध मे 100 फुट पर गिरे गोले से बच निकलने की आशा रहती है किन्तु परमाणु बम के गिरने के दो मील तक सुरक्षा की आशा नहीं। 'सरातोगा' जैसे पोत के डेक पर यदि नाविक रहते तो वहाँ पर रख छोड़े सूअरों की भाँति शायद बम विस्फोट के दूसरे दिन वे जीवित रहते। लेकिन कौन कह सकता है कि हीरोशिमा के अभागों की भाँति वे दस या अधिक दिन में मर नही जाते। नेवादा दूसरे दिन सारे समय तप्त रहा। यह रेडियो क्रिया सम्बन्धी रेडियोकरण का प्रभाव था। बम विस्फोट के 72 घंटे बाद ही संवाददाता नेवादा के ऊपर जाने की इजाजत पा सके।"[1]

सन् 1955 के प्रारम्भ में यही बम अमेरिका ने नेवादा स्थित एक उच्च मीनार पर गिरा कर देखा। 500 मील की दूरी पर इसकी चमक दृष्टि-

1. सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृष्ठ ११-१३।
परमाणुशक्ति और परमाणु बम—राहुल सांकृत्यायन।

गत हुई। रूस ने इसे साइबेरिया म ले जाकर परीक्षण किया। फ्रास ने भी सहारा के रेगिस्तान के रेगोन नामक अज्ञात स्थान मे विस्फोट किया।

अद्यतन वज्ञानिक परिशीलन के क्षेत्र म रूस सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित है। उसन अन्तर्द्वीपीय निक्षेपणास्त्र भी तैयार कर लिए हैं जो विज्ञान का तृतीय उच्छ्वास है। उद्जन बमो स भी भयकर नाईट्रोजन बम या कोबाल्ट बमो के निर्माण के स्वप्न सँजाये जा रहे हैं, एसा एक ही बम ससार या नष्ट करने के लिए पर्याप्त है। स्वेज-नहर सकट के समय आकस्मिक रूप से एक दिन रूस के भूतपूर्व प्रधानमत्री श्री बुलगानिन ने ब्रिटेन व फ्रास को सावधान करते हुए चुनौती दी थी कि "और अब ऐसे भी राष्ट्र हैं जिन्हे ब्रिटेन के तटो पर जलसेना या वायुसेना भेजने की आवश्यकता नही। राकेट जसे शक्ति सम्पन्न प्रक्षेपण साधनो स ही सहस्रो मील दूर से सेना का काम लिया जा सकता है" इन्ही शब्दो से ब्रिटेन और फ्रास की सेनाओ को विवश होकर स्वदेश की तरफ चरण बढ़ाने पडे।

काल का महाचक्र अप्रतिहत गति स चलता रहा है। बुलगानिन की उपयुक्त चुनौति स जनता का ध्यान हटा ही था कि अचानक 26 सितम्बर, 1957 को सुदूर प्रक्षेपणास्त्र की घोषणा करते हुए यह सूचित किया गया कि इस अस्त्र क द्वारा किसी भी महाद्वीप को नष्ट किया जा सकता है।

वर्तमान उपलब्ध सभी विध्वसक उपकरणो म सर्वाधिक शक्ति कथित शस्त्र की है, जो बिना सचालक के ही 5500 मील तक की दूरी पर से लक्ष्य स्थान का भेद सकता है। इसे पृथ्वी से 600 मील तक की ऊँचाई तक ले जाकर अभीष्ट लक्ष्य की ओर छोडा जा सकता है। इससे जो विस्फोट होता है वह 20 30 मिनट म ही 1600 मील प्रति घट की गति से चलकर लक्षित स्थान को नष्ट-भ्रष्ट कर दता है। न तो इससे रक्षा की जा सकती है और न कोई ऐसी शक्ति का अभी तक आविष्कार किया गया है, जो मार्ग म ही इसकी ध्वनि को विफल कर दे। आज सम्पूर्ण राष्ट्र इसी अस्त्र से भयाक्रात है। रामायण या महाभारत म वर्णित आग्नेयास्त्र या ब्रह्मास्त्र की स्मृति सहज हो आती है।

4 अक्तूबर सन् 1957 को रूस ने 23 इच व्यास का एव 184 पौंड का गोलाकार उपग्रह इसी राकेट पर रखकर अतरिक्ष म छोडा था। इससे

संपूर्ण विश्व मे हलचल मच गई थी। स्पूतनिक नम्बर 1 और रूसी बाल चन्द्रमा या कृत्रिम चन्द्र के नाम से इसे अभिहित किया गया। रूस के वैज्ञानिकों के बुद्धि कौशल का और अदम्य शोधवृत्ति का वास्तविक परिचय उपर्युक्त पक्ति से मिलता है।

कथित उपगह पृथ्वी से लगभग 460 मील की ऊँचाई पर गया और पृथ्वी की आकर्षणशक्ति (Force of Gravitation) से लड़ता हुआ अपनी कक्षा बना कर 18000 मील प्रति घटा की गति से पृथ्वी के चारों ओर भ्रमण करने लगा। इसकी शक्ति के सम्बन्ध में डॉ० पोलियाकोवस्की ने कहा था "ले जानेवाले राकेट के इजन की क्षमता की तुलना विश्व के सर्वोच्च विद्युत ग्रह से की जा सकती है।" राकेट के भीतर पृथ्वी पर चलनेवाले यन्त्र के समान कोई ऐसा यन्त्र नही है जो इसे गति प्रदान करता हो, केवल लोह आवेष्ठित एक खोल है, जिसमे एक दहन कक्ष है। इसमे एक प्रकार का ईंधन जलता है जिसकी गैस बनती है। यह गैस खोल के पिछले भाग मे किए गए छिद्र के जरिये बाहर निकलती है। इसी की तीव्रगति की प्रतिक्रिया से राकेट ऊपर उठता है। जैसे वायु पूरित गुब्बारे में सुई से छिद्र करने पर ज्यों-ज्यों हवा निष्कासित होती है त्यो-त्यों गुब्बारा तीव्र वेग से गगन की ओर ऊँचा उठता चला जाता है।

कहा जाता है कि आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व चीन वालो ने बहुत साधारण शक्ति वाले राकेट प्रयुक्त किये थे। अठारहवी शताब्दी मे अग्रेज सेना ने नवाब हैदरअली पर चढाई की। उस समय नवाब की सेना ने अग्रेजी सेना पर विस्फोटक प्रक्षेपणास्त्र छोड़े थे जो 8 इंच लम्बे और 2 इंच व्यास के फौलादी लोहे के सिलेण्डरो से निर्मित थे। अंग्रेजी सेना इसका प्रतिकार करने मे अक्षम थी। इसी भारतीय राकेट पद्धति से प्रेरणा पाकर अंग्रेज वैज्ञानिक कर्नल काग्रीव ने इग्लैण्ड की एक अनुसंधानशाला मे प्रयोग करके इन मसालो मे कुछ सशोधन किया और वह राकेट डेढ मील तक मार करने की क्षमता रखते थे। तदन्तर प्रथम महायुद्ध के समय अमेरिकन वैज्ञानिक डा० राबर्ट ने इसे और भी संशोधित रूप दिया। द्वितीय महायुद्ध के समय जर्मनी के 2200 वैज्ञानिकों ने इसकी शक्ति को अतिमानुषी बनाकर एक और अभिवृद्धि की। सर्व प्रथम 8 सितम्बर, 1944 में जर्मनी का प्रथम राकेट

वी–2 लदन मे गिरा तो विश्व म खलबली मच गई। इसमें संदेह नहीं कि इस राकेट पद्धति के विकास में जमन वज्ञानिको का महत्त्वपूण भाग रहा है। लेकिन इसे सर्वोच्च और शक्तिसम्पन्न बनाने का पूरा श्रेय तो रूस को ही प्राप्त है।

अन्य राष्ट्र भी गगनचारी हो चले है। मानव की आत्यतिक सहारशक्ति से जनता भयभीत है। परन्तु यह तो मानना ही पडेगा कि इस प्रकार के उड्डयन और वज्ञानिक प्रयोगो द्वारा अन्तरिक्ष यात्रा अवश्य सरल हो जाएगी। मगल ग्रह की यात्रा भी सभावित हो जाएगी। बल्कि स्पष्ट कहा जाए तो यदि इसी प्रकार उड्डयन क्षेत्र दिनानुदिन प्रगतिगामी बना रहा तो रूस के मगल ग्रह तक पहुँचने की सभावना सत्य का स्थान ग्रहण कर सकेगी। जब गुरुत्वाकषण शक्ति पर विजय प्राप्त हो जाएगी तो पृथ्वी और आकाश का अतर स्वत समाप्त हो जाएगा।

प्रथम उपग्रह पृथ्वी का भ्रमण कर ही रहा था कि रूस के उवर मस्तिष्क सपन्न अनुसधित्सको ने एक माह के भीतर ही अर्थात नवम्बर सन् 1957 में द्वितीय उपग्रह स्पूतनिक नबर 2 गतिमान कर दिया। वह पूर्वापेक्षया छह गुना विशाल था। इसका वजन 1120 7 पौंड था। एक हजार मील अनुमानत ऊपर गया। इसके घूमते ही विश्व के साम्राज्यवादी राष्ट्रों के हृदय प्रकम्पित हो उठे। 'लाइका' नामक श्वान को इसके भीतर भेजा गया, जिस के भोजन, श्वास क्रिया, निवास, जल एव अन्य जीवन सम्बधी आवश्यकताओं का न केवल प्रबध ही किया, अपितु अपनी प्रयोगशालाओं में बठ कर वज्ञानिक उसके हृदय की धडकन, श्वास प्रश्वास और यदा-कदा उसके भौंकने का अनुभव भी करते रहे।

1 फरवरी, 1958 को अमेरिका ने अपनी अनेक असफलताओं के बाद अपना भू उपग्रह (एक्सप्लोरर) छोडा। यह 19500 मील प्रति घण्टे की गति से पृथ्वी का चक्कर लगाता था। इसका वजन 30 पौण्ड था। 130 मिनट म पृथ्वी की परिक्रमा लगा लेता था तथा कहीं-कहीं तो 200 मील से अधिक ऊचाई तक रहता था। इसके निर्माता जमन वज्ञानिक डा० वोनब्राउन का कहना है कि 'कई वर्षों तक यह गगन म विचरण करता रहेगा।' उनका यह भी कथन है कि इन वायचन्द्रो द्वारा विश्व के समस्त तार (Wires) एकत्र कर निश्चित स्थानो पर वितरित भी किए जा सकेंगे।

जहाँ से वह गुज़रेगा उस देश के सभी तार कुछ ही क्षणों मे एकत्र कर स्वयं वितरित कर देगा। विश्व की तार व्यवस्था को बनाये रखने के लिए इस प्रकार के छह बालचन्द्र काफी होगे। यदि इन तारो के लिए प्रति शब्द एक पैसा भी लिया जाय तो सारे संसार के तारों की कुल आय से अतरिक्ष यात्रा, यहाँ तक कि मंगल ग्रह एवं चन्द्रलोक की यात्रा का पूर्ण व्यय प्राप्त हो जाएगा।

वर्तमान राकेट चन्द्रलोक का चक्कर लगाकर यदि पुन. लौटे तो इसकी गति प्रति घण्टा 23900 मील होनी चाहिए। गति के अतिरिक्त मानव शरीर की सहन शक्ति, क्षमता, ऊष्मा-गति-सहन-योग्यता, गागनीय उल्काओ से विध जाने का और अन्तरिक्ष किरणो से शक्ति क्षीणता का भय आदि अनेक बाधाएँ मानव के समक्ष मुंह बाये खड़ी हैं। साथ ही चन्द्रलोक मे खाद्याभाव है, वापस लौटना भी समस्या ही है। इन सब बातो से एक विचार तो मानव पटल पर अंकित हो ही जाता है कि विज्ञान का यह विकास निर्माण या विनाश दोनो मे से कुछ न कुछ करके ही रहेगा, क्योकि विज्ञान के उच्छ्वासो ने स्वय उसे संकट में डाल रखा है।

वैज्ञानिक विजय

अंतरिक्ष में मानव की सफल यात्राएं

विज्ञान की अभूतपूर्व प्रगति के गौरवशाली इतिहास में 12 अप्रैल, 1961 का दिन स्वर्णाक्षरों में अंकित किया जाएगा। जबकि यूरी गागारिन, एक रूसी युवक ने 108 मिनट तक अंतरिक्ष में सुखद यात्रा कर पृथ्वी पर सकुशल वापस आ जाने का महान् गौरव प्राप्त किया।

कुछ ही समय पूर्व ऐलन शेपर्ड व ग्रिसम नामक दो अमेरिकन युवकों ने अंतरिक्ष यात्रा कर चन्द्रलोक की यात्रा में दो नये अध्याय जोड़े हैं।

इस प्रकार बच्चों के कल्पना लोक के मामा तथा अपनी अमृत-तुल्य शीतल और शुभ्र किरणों के कारण सुन्दरियों के सौन्दर्य के प्रतिमानभूत चन्द्र के रहस्य का पर्दा छूट गया। रहस्य के उद्घाटन का कार्यक्रम तो 7 अक्टूबर, 1959 को ही उठ गया था, जब रूस द्वारा भेजे गए 'ल्युनिक तृतीय" ने चन्द्र के अदृश्य भाग के चित्र रूसियों को भेंट किए। लेकिन इन वीर अंतरिक्ष-यात्रियों की निरंतर सफल यात्राओं ने मानव को अंतरिक्ष में सम्बन्धित कल्पनाओं को तिलांजलि देकर वास्तविक तथ्यों को सोचने के लिए बाध्य किया है और रूस की यह क्रांति प्रकृति पर मानव विजय की प्रतीक है। जैसाकि श्री नेहरू ने गागारिन की सफल यात्रा के पश्चात् कहा था कि अंतरिक्ष में यान द्वारा मानव का भेजना और सकुशल उसे जमीन पर अपनी इच्छाओं द्वारा उतार लेना प्रकृति पर मानव की महान् विजय है।

गागारिन के पश्चात् 6 अगस्त, 1961 को मास्को समय के अनुसार नौ बजे ऊपर सोवियत संघ ने एक दूसरा अन्तरिक्ष यान वास्तोक 2 पृथ्वी की परिक्रमा करने हेतु छोड़ा। उस अन्तरिक्ष यान का चालक सोवियत नागरिक मेजर घरमान तितोव था। यह अपनी उड़ान में समुद्रयात्रा का पूरा

कर जब पृथ्वी पर पुन सकुशल लौट आता है तो सोवियत संघ उसका हार्दिक अभिनन्दन करता है और हर्ष की बाढ उमड़ आती है।

यह बतलाया जाता है कि 23 घण्टे 45 मिनट तक अन्तरिक्ष यान वोस्तोक-2 ने भूमण्डल के दस चक्कर लगाए और 410000 किलोमीटर की दूरी अर्थात पृथ्वी और चॉद के बीच की दूरी से अधिक दूरी तय की। तितोव की इस सफल यात्रा ने सारे विश्व को स्तब्ध बना डाला है। राष्ट्र के बडे-बड़े सुधीर वैज्ञानिको का विश्वास इतना निश्चित हो चला है कि हम शीघ्र ही चन्द्र व मंगल ग्रह की यात्रा करने मे सफल हो सकेंगे। मेजर धेर्मान तितोव ने सोवियत संघ की महासभा मे अपना वक्तव्य देते हुए यह बतलाया कि "उड़ते समय मुझे भूख नही लगी पर मास्को समय से लगभग साढे बारह बजे मैंने दिन का खाना और छठी परिक्रमा मे रात का खाना खाया। सातवी से बारहवी परिक्रमा के बीच हमारे अन्तरिक्ष नाविक ने कार्यक्रम के अनुसार सोकर विश्राम किया। तेरहवी परिक्रमा जब आरम्भ हो रही थी तब उसकी नीद खुली और उडान के दौरान मे उसने कसरत की।"

समूचे विश्व का ध्यान आज सोवियत अनुसंधान की प्रगति पर केन्द्रित है। वास्तव मे वैज्ञानिक युग की ये सबसे बड़ी उपलब्धि है।

अठारह

विज्ञान पर एक तटस्थ चिन्तन

वतमान युग को विज्ञान का युग कहकर अभिहित किया जाता है। विज्ञान ने मानव के समक्ष ज्ञान का असीम क्षेत्र उन्मुक्त कर दिया है। मानव इस विराट भूमण्डल से ही परिचित नही है अपितु विज्ञान के क्रान्तिकारी चरणों से गगनीय भूगर्भ और सामुद्रिक आदि क्षेत्रों का भी सूक्ष्मता से परिशीलन कर चुका है। विज्ञान की यह कूच कहाँ जाकर ठहरेगी, यह महान् से महान भविष्य उद्घाटक भी नही कह सकता।

इस वैज्ञानिक जगत म कोई भी देश या राष्ट्र अपना जीवन सम्मान व सुख समद्धि मूलक बिताना चाहे तो वह विज्ञान की उपेक्षा नही कर सकता। विज्ञान उसके लिए अनिवार्य है। प्रधान मंत्री नेहरू विज्ञान की आवश्यकता पर अपना महत्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—Life today is governed and conditioned by the off shoots of science and it is very difficult to imagine existence without them अर्थात् " आज का जीवन विज्ञान के साधनों द्वारा सचालित एव प्रभावित होता है। उनके बिना जीवित रहने के लिए सोचना ही कठिन है।"

बात यह है कि विज्ञान ने मानवजाति के लिए क्या नही किया ? उसने भूखे को भोजन, नगे को वस्त्र, दु खी को प्रसन्नता और धनी को विलासिता प्रदान की है। इस दृष्टि से विज्ञान हमारे लिए सुख-सुविधाओं के कोष की कुंजी है। एक विचारक का तो कथन है कि "विज्ञान ने जीवन मरण की कुंजी ही प्राप्त करली है।" Science has discovered the keys of life and death "विज्ञान बीसवी सदी का ईश्वर है।" Science is the God of 20th Century वस्तुत विज्ञान की इस उन्नतिशील क्रियाओं ने विश्व स्वय आश्चर्यान्वित है।

विज्ञान के दो पहलू

विज्ञान का एक पहलू मानव मात्र के कल्याण की भावना से पूरित है। वह मानव जाति के हाथों मे दुःख, पीडाओ और अभावों को दूर करने की असीम सामर्थ्य प्रदान करता है। साथ ही इससे यह भी आशा की जा सकती है कि वह विश्व को अपनी बहुमूल्य सेवा अर्पित कर गरीबी, अज्ञान और रोगो का नाश कर पृथ्वी पर स्वर्ग का अभिनव द्वार खोलेगा। उक्त आकांक्षा की पूर्ति तभी सभव हो सकती है जबकि विज्ञान द्वारा प्रदत्त अमूल्य अविष्कारो का उपयोग केवल मानव कल्याण के लिए किया जाए। यदि ऐसा न हो सका तो सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टाइन के शब्दों मे "विज्ञान की विपरीत दिशा से विश्व का सार्वभौम नाश निश्चित हे।"

विज्ञान का दूसरा पहलू वह हे, जिसमे भय, हिंसा आदि की विषाक्त एव दुर्दान्त भावना का सन्निवेश है। वह विज्ञान दानव अपने प्रत्येक श्वास-प्रश्वास मे समूचे विश्व को निगलने के लिए लालायित हे। वह एक से एक भयंकर एवं प्रलयकारी संहारक अस्त्रो की झंकारों के स्वर छोड़ रहा है। विश्व के रंग-मच पर अपना नग्न ताडव करने को समुद्यत है। अतः प्रत्येक विचारक के सम्मुख यह प्रश्न समुपस्थित होता है कि विज्ञान मानव जाति की असीम उन्नति एवं कल्याण का अबाध स्रोत है—या विनाश का कारण? आज देश के मूर्धन्य मनीषियो को उक्त प्रश्न पर तटस्थ नीति से सोचना है।

पाश्चात्य विचारक गेटे ने जीव को मारकर जीवन की गतिविधि परखने का दोषी विज्ञान को ही बतलाया है—He, who studies some living thing, first drives the spirit out of the body.

उस प्राणी के हृदय की घृणा विज्ञान को ही प्राप्त होती है। इसी प्रकार अन्य विचारको ने भी विज्ञान की भर्त्सना कर अपनी भावना अभिव्यक्त की है। महात्मा गांधी जी के शब्दो मे—Who can deny that much that passes for science and art today destroys the soul instead of lifting it, and instead of evoking the best in us panders to our best passion. अर्थात् "इस बात के लिए आज कौन मना कर सकता है कि विज्ञान और कला ने मनुष्य की आत्मा को उन्नतिशील और विकासशील बनाने की अपेक्षा उसको और भी नष्ट-भ्रष्ट

किया है तथा हमारे श्रेष्ठ विचारो और भावनाओ को अधोगति म पहुँचाया है।" इसी प्रकार उद्भट विचारक बर्नाड शॉ (Bernard Shaw) के मतव्य के अनुसार—Science is always wrong It never solves problem without creating ten more अर्थात् "विज्ञान हमेशा गलत तरीके पर जाता है। यह विज्ञान समस्या का समाधान तो नही करता है, किन्तु उस समस्या को दस गुणी और अधिक बढा देता है।"

प्रसिद्ध चिंतक रोमारोलाँ (Roma Rolland) के अनुसार—The world is progressing indeed, but which way ? Not, of course, towards constructive advancement but towards a horrible destruction And modern science with all its empty boasts of constructive and progressive forces, is leading the world towards a physical, moral and intellectual decay अर्थात् "विश्व नि सदेह उन्नति तो कर रहा है, लेकिन किस ओर ? नि सदेह रचनात्मक उन्नति के बजाय वह एक भयकर विनाश की ओर बढ रहा है और यह आधुनिक विज्ञान उसकी समस्त किन्तु आत्म श्लाघी रचनात्मक एवं प्रगतिशील शक्तियो से विश्व को शारीरिक, नैतिक एव बौद्धिक क्षय की ओर ले जा रहा है।" अस्तु और भी अन्य विचारको ने उपयुक्त आरोपो के कारण ही विज्ञान को हीन व घृणा की दृष्टि से देखने का प्रयास किया है।

हीरोशिमा एव नागासाकी विभीषिका-युद्धो म प्रयुक्त होने वाले आधुनिकतम परमाणु अस्त्र, टैंक, आणविक प्रक्षेपणास्त्र व पनडुब्बियाँ आदि विज्ञान की ही देन है। इसके पीछे युद्ध-पीडित मानव की दुखभरी आहो का उद्रेक भी असत्य नही। वह भविष्य के विनाश का अग्रदूत या प्रलयकार की सृष्टि करनेवाला कहा जा सकता है। उक्त तथ्य से सिद्ध होता है कि मानवजाति का भविष्य अब वैज्ञानिको के हाथ म है। व चाहे तो गुरुता के उन्नत शिखर पर पहुँचा सकते हैं और चाहे तो विनाश के गर्त म भी ढकेल सकते हैं।

वस्तुत देखा जाए तो विज्ञान के इस असगत रूप के सृष्टा कुछ और ही व्यक्ति हैं जिनका व अनुचित उपयोग कर विज्ञान का प्रमसकारी पोषित

कि आज का वास्तविक दोष विज्ञान की अद्भुत शक्तियों के प्रयोग करने वाले व्यक्तियो का है, अनुसधान कर्ता या वैज्ञानिकों का नहीं। अतः हीरोशिमा एव नागासाकी को प्रलय की विभीषिका मे निमज्जित करने का श्रेय अमेरिकी राजनीतिज्ञो को ही दिया जाएगा। अत 1950 के नोबल पुरस्कार विजेता एव महान् दार्शनिक 'बर्ट्रेण्ड रसल' का यह अभिमत ठीक ही है कि—"मनुष्य अपनी कलुषिता मे पवित्र को भी अपवित्र कर रहा है। मनुष्य ही जीवनदायिनी शक्ति को जीवननाशिनी बना रहा है। मनुष्य ही विज्ञान-ससार को सर्वनाश की ओर ले जा रहा है। अन्यथा यह आशा व्यर्थ नहीं है कि विज्ञान इस कष्टपूर्ण ससार की काया पलट दे और सबके लिए एक नये सुखात्मक और शक्तिशाली स्वर्ग को जन्म दे।"

सक्षेप मे साराश यह है—विज्ञान हमें इसलिए प्रेरित नहीं करता कि हम अशांति और वेदना का कारण बनें, अपितु वह तो हमे उस स्थान पर पहुँचाता है, जहां हमारे मस्तिष्क को विकासावस्था प्राप्त होती है।

वर्तमान विज्ञान वरदान या अभिशाप ?

विश्व की कोई भी वस्तु मनुष्य के लिए तभी वरदान रूप हो सकती है, जब वह उसमें मानवता का संचार करे, जीवन को उन्नतशील तत्त्वों से ओत-प्रोत कर सके और जीवन में नैतिकता की अभिवृद्धि कर भौतिक वस्तुओं के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण समुत्पन्न कर सके। यदि उसमें केवल वैयक्तिक स्वार्थ पूर्ति, शोषण, अत्याचार, अकर्मण्यता, प्रमाद आदि अवगुणों का विकास हो तो भले ही बाह्य दृष्टि से सीमित समय के लिए जीवनोन्नत करती प्रतीत होने पर भी वह अभिशाप ही कही जाएगी। इस प्रकार की भौतिक शक्तियाँ किसी भी दृष्टि से उपादेय नहीं मानी जा सकती। यदि संक्षेप की भाषा में कहा जाए तो "मानव में दिनानुदिन सहिष्णु वृत्ति का विकास व अनैतिक तत्त्वों के प्रति पूर्ण उपेक्षा ही सच्चा वरदान है और पारस्परिक विद्वेष और कटुता की भावना को प्रोत्साहित करने वाले तथ्य अभिशाप हैं।

वस्तुतः विज्ञान के विषय में यह बात पूर्ण रूपेण चरितार्थ होती है। जहाँ विज्ञान ने मानव की सुख-समृद्धि में अभिवृद्धि की है, कम काम और अधिक आराम देने की भावनाएँ क्रियान्वित की हैं वहाँ उसके लिए बौद्धिक पराधीनता की सृष्टि भी की है। मानव समाज का विज्ञान जितना उपकारक है उतना ही विकारक भी। इतिहास ने यह प्रमाणित किया है कि विज्ञान मानव के लिए वरदान का उपादान अल्प और अभिशाप का रूप अधिक है।

यातायात की सुविधा ने विशाल विश्व को सिमटा दिया है, भौगोलिक दूरी को समाप्त कर दिया है। साथ ही पारस्परिक आक्रमण भी उतना ही सरल हो गया है। विज्ञान के उपयोगों पर दृष्टि केन्द्रित करने से स्पष्ट विदित होता है कि सचमुच मानव समाज के लिए यह आविष्कार उत्तम वरद है। पर जब इसके दुरुपयोगों का अनुभव होता है तब—मानस-पटल पर अधिक प्रतिक्रिया होती है। कवि का कथन है—

"चल उन्नत जग मे जबकि आज विज्ञान ज्ञान।
वह भौतिक साधन यन्त्र यान, वैभव महान्।
सेवक है विद्युत, वाष्प शक्ति, धन-बल नितांत।
फिर क्यों जग में उत्पीड़न! जीवन क्यों अशांत!"

आश्चर्य होता है कि उन्नत विज्ञान द्वारा मनुष्य को नित्य नये सुख-साधन प्राप्त होते हुए भी जीवन मे शाति क्यो नहीं मिलती! वह नीति, धर्म और सदाचार से विमुख हो विलासिता पूर्ण जीवन के प्रति क्यो आकृष्ट हो रहा है! अल्प श्रम द्वारा प्राप्त साधन मनुष्य को किस सीमा तक अकर्मण्य बना देता है। जहाँ विज्ञान द्वारा अपेक्षित सुखोपलब्धियाँ प्राप्त हुईं, वहाँ नये रोग, आमोद-प्रमोद का भावनाएँ मानव समाज मे अधिक विकसित हुईं। प्रश्न होता है इस वैज्ञानिक विकास के प्रकाश मे देखें कि क्या आज पूर्वजो की अपेक्षा नैतिक और सास्कृतिक धरातल हमारा उन्नत है? क्या हम अधिक आत्म-विश्वासी व श्रद्धाशील है? यदि नही तो मानना पड़ेगा कि विज्ञान हमारा अधिक समय तक पारम्परिक रूप से मार्ग प्रदर्शन करने मे सक्षम नही है। अनावश्यक आवश्यकताओ की वृद्धि और इनकी उपभोग-मूलक प्रवृत्तियाँ बौद्धिक तथ्य से परे है। रस-हीन जीवन अपनी वास्तविकता खो बैठता है।

वैज्ञानिक यन्त्रो का आविष्कार मानव-सुख-समृद्धि का एक अग रहा है, पर आज तो यत्रवाद ने मानव समाज पर आधिपत्य स्थापित कर रखा है। उत्पादन बाहुल्य से ग्रामोद्योग की प्रवृत्तियो के मंद होने के कारण तत्रस्थ श्रमिकों की न केवल बेकारी ही बढ़ी है, अपितु वे सब विशाल नगरो की ओर आकृष्ट होने लगे हैं। यहाँ उनकी स्थिति ऐसी हो जाती है कि अपने परिवार का पालन तक सुचारु रूपेण नही कर पाते, क्योकि लक्ष्मीनन्दनो द्वारा उनका शोषण हो जाता है। स्पष्ट कहा जाए तो इस यत्रवाद के प्रसार से ही दिनानुदिन बेकारी बढती जा रही है। ऐसी स्थिति मे न तो समानता के आधार पर सपति का वितरण ही होता है, न वर्ग-सघर्ष की भावनाएं ही शिथिल पड़ती है और न मनुष्यो मे इकाई ही सभव है। जहाँ विज्ञान ने साम्य के स्थान पर वैपम्य को प्रतिष्ठित किया, वहाँ धर्म, साहित्य और हस्त-कला-उद्योग को प्रोत्साहित करने का अवकाश ही कहाँ?

जब मनुष्य म स्वार्थ-मूलक जीवन-यापन की प्रवत्ति विकास पाती है, तब वह वास्तविक जीवन का आनन्दानुभव नही कर सकता—वह स्वय यत्र या एक अग बन जाता है, वह उदर ज्वाला के शमनाथ कमशील रहता है, समाज कल्याण की व्यापक भावना का उदय उसक हृदय मे नही हो पाता—जीवन की सोद्देश्यता समाप्त हो जाती है। उद्देश्य हीन जीवन निरथक है। अमेरिका को ही देखे कि वहाँ इतनी अधिक मात्रा म गेहूँ उत्पन्न होता है कि कभी-कभी तो ऐसी महत्त्वपूण खाद्य-सामग्री—अन्यत्र इसकी आवश्यकता रहन के बावजूद भी—जलाकर नष्ट कर दी जाती ह । चीजो का मानवकृत अभाव, अधिक मुनाफा खोरी, अकिचना का रक्तशोषण ये कुछ यत्रवाद के परिणाम है । तात्पय है कि विज्ञान का माग उतना सीधा और आदश प्रेरक नही, जितना कि इसके अनुयायियो न समझा था। सुख-समृद्धि के विकास म विनाश का योग रहा पर इसस मानव की अतरात्मा के विकास का माग अवरुद्ध हो गया। आत्म विश्वास व पर मगल की कामना की दिशाएँ सीमित हो गई। इत पूव जो स्वच्छता, शालीनता, सदाचार, सयम, त्याग आदि भावनाएँ विकसित रूप मे जीवन के अन्तस्तल का स्पश करती थी वह स्थिति आज कहाँ है ? कृत्रिमता, अन्याय, अमगल, अपवित्रता और अनतिकता का सवत्र साम्राज्य है। आज का मानव कृत्रिम दास बना हुआ है। कहन को तो यह बहुत कुछ सोचता है, पर उसका हृदय बहुत सकुचित है।

लाभापेक्षया हानि की सम्भावना जहाँ अधिक हो उस वस्तु को अपनाने में कोई बुद्धिमत्ता नही है। विज्ञान से लाभ है, तो उससे हानियाँ भी कम नही। उदाहरणाथ—विद्युत-शक्ति को ही लें,जहाँ वह भौतिक विकास का माग प्रशस्त करती है वहाँ प्राण घातिनी भी है। तनिक प्रमाद भी जीवन को समाप्त कर सकता ह। मानव सहारक तथ्यो का प्रयोग निर्माण के लिए बहुत कम हो पा रहा है। एक विक्टोरियन कवि के विचार से यह ठीक है कि "विज्ञान से ज्ञान की वद्धि होती है किन्तु भावुक-स्फूर्ति नष्ट हो जाती है।" वस्तुत विज्ञान से भावुकता का क्या सम्बन्ध ? भावुकता हृदय-परक है तो विज्ञान मस्तिष्क-परक। ज्ञान के भण्डारो को ज्ञान की अपेक्षा उनके समुचित उपयोग की ओर गतिमान होना अधिक बुद्धिमत्तापूण काय है। बौद्धिक-समृद्धि की अपेक्षा नतिक समृद्धि अधिक सुखदायक है, जिससे

मानवता शताब्दियों तक अनुप्राणित हो सकती है।

इस प्रकार विचार करने पर तो आधुनिक विज्ञान मानव जाति के लिए भयंकर अभिशाप ही प्रमाणित हुआ। उसका यत्किंचित् वरदान भी मानव को मृत्यु के विनाश की ओर ले जाने मे ही सहायक हुआ। द्रष्टव्य यह है कि मनुष्य आधुनिक विज्ञान के वरदान को विनाशोन्मुखी न बनाकर विकासोन्मुखी कैसे बना सकता है? इसकी दूसरी अवस्था ही इसे वरदान की कोटि मे प्रविष्ट करा सकती है।

बीस

आणविक अस्त्र प्रयोगों की भयंकर प्रतिक्रिया

एक पौराणिक किवदन्ती है—एक बार देवगण अमृत की खोज में निकल पड़े। उन्हें पता चला कि अमृत तो सागर के गर्भ में है, तो उन्होंने समुद्र को मथकर अमृत निकालने की ठान ली। मेरु की मथानी और शेषनाग की रस्सी बनाकर सागर मन्थन प्रारम्भ किया। समुद्र से प्राप्य रत्नों में सर्वप्रथम हलाहल निकला। इसे देखकर देवी-देवता विचार में पड़ गए कि इस विष का पान कौन करे? जो इसका सेवन करेगा उसे संसार से विदा लेनी होगी। फिर अमृत की उपयोगिता ही क्या रह जाएगी। इन्द्र से कहा गया "तुम बहुत ही शक्तिशाली हो और देवताओं के राजा हो, अतः इसे पी जाओ।" इन्द्र ने कहा—"क्या आप लोग मुझे मार डालना चाहते हैं?" विष्णु के कहने पर उन्होंने कहा—"हमारी तो हिम्मत नहीं होती, हम तो अमृत के लिए आये हैं।" महादेवजी से प्रार्थना करने पर उन्होंने कहा—"अमृत तो मिलनेवाला ही है, किन्तु अगवानी तो जहर से है। जिसमें विषपान की शक्ति होती है, वही तो अमृत पचा सकेगा।" तब किसी ने कहा "तो शंकरजी आप ही क्यों नहीं इसे स्वीकार कर लेते?" यह सुनते ही शिवजी ने अत्यन्त शान्तभाव से सम्मानपूर्वक विषपान कर गले में सुरक्षित रख लिया। विष के प्रभाव से कण्ठ में नीलापन आने के कारण ही उन्हें भोले, शम्भु, नीलकण्ठ आदि नामों से अभिहित किया गया।[1]

आज वैज्ञानिकों के भौतिक विज्ञान रूपी समुद्र मन्थन से अणुबम, उदजन बम और प्रक्षेपणास्त्र आदि आणविक विष निकले हैं, परन्तु शिव के समान ऐसा कौन व्यक्ति या राष्ट्र आज तैयार है जो इन्हें समुचित रूप से

---

1 मान सहित जो विष पियो शम्भु भये जगदीश,
मान रहित अमृत पियो, राहु कटायो शीश।

पचा ले ? हाँ, भारत मे इस विषपान की शक्ति अवश्य विद्यमान है, जिसने समत्व की साधना और परदु ख कातरता व अखण्ड लोककल्याणकारी भावनाओं का जीवन में सदैव साक्षात्कार किया है। समत्व का आधार ही यहाँ की सस्कृति की मूल प्रेरणा रही है। भारत ने ही पर-दु ख को स्वदु.ख रूप से अगीकार किया है। भारत ने विश्व के विभिन्न विचारवाले राष्ट्रों के सम्मुख शान्ति स्थापनार्थ पचशील जैसे जनकामी सिद्धान्त का सक्रिय सूत्र-पात किया हे। अहिंसा को न केवल भारत ने अपना अमृत ही माना है, अपितु इसीके आधार पर स्वराज्य प्राप्त कर विश्व को दिखला दिया कि भयकर वैषम्य मे भी अहिंसारूपी अमृत साम्य स्थापित कर, कैसी भी पेचीदगी को सरलता से सुलझा सकता है।

अणुवम के विनाशकारी प्रभाव ने विश्व राजनीति मे उथल-पुथल मचा दी। भय के कारण प्रत्येक राष्ट्र अपने पास विनाश अस्त्र वड़ी सख्या में संग्रह करने लगा है। और साथ ही यह भी अनुभव करने लगा है कि जिसके पास अणुशस्त्र नही है वे विश्व-राजनीति मे पश्चात्पाद गिने जाएँगे। भविष्य मे उनकी सत्ता नष्ट हो जाएगी। राजनीतिक क्षेत्रो में यह सोचा जा रहा है कि आणविक अस्त्र सग्राहक राष्ट्र ही अजेय हे। इसी कारण आज रूस और अमेरिका मे मनोमालिन्य वना हुआ है। दोनो राष्ट्र शक्तिशाली आण-विक अस्त्रो के स्वामी है। अपेक्षाकृत रूस कुछ आगे है। ये दोनो राष्ट्र आए दिन पारस्परिक घुड़कियाँ वताया करते हे जिनका प्रभाव अन्य राष्ट्रो पर भी पड़ता है। यदि तृतीय महायुद्ध मे ये विनाशकारी अस्त्र प्रयुक्त हुए तो ससार की क्या दशा होगी ?

अणु अस्त्र प्रयोगो के समय आइन्स्टाइन ने उचित ही कहा था, "अव हमारे सामने दो ही विकल्प है, या तो हम एक साथ जिएँगे या एक साथ मरेंगे।" यदि अणु अस्त्रो का प्रयाग हुआ तो विश्व मे मानव जाति का अस्तित्व संदिग्ध हो जाएगा। इसीलिए मानव सभ्यता के उन्नतिशील द्रष्टा इस प्रकार के अस्त्रो के विरोध मे आंदोलन और प्रदर्शन द्वारा इनके विरोध मे वातावरण तैयार कर रहे हैं। परन्तु राष्ट्रो के साम्राज्यवादी मानस तक इसकी ध्वनि नही पहुँच पाती। यदा-कदा विरोध स्वरूप वड़े-वड़े दार्शनिक तक को कारावास भुगतने को विवश होना पड़ता है।

जहाँ आणविक अस्त्रों का प्रचण्ड विरोध हो रहा है वहाँ चर्चिल जैसे राजनीतिज्ञ ने कहा कि "उद्जन बम जैसे अस्त्रों का होना बहुत आवश्यक है क्योंकि यही एकमात्र ऐसा साधन है जो शक्ति को सतुलित बनाये रख सकता है और स्थिर शान्ति भी।" जो राष्ट्र अस्त्रों के बल पर अपने को सुरक्षित समझता है। उसका सोचना भ्रामक है। उदाहरणार्थ किसी नागरिक के गृह में विस्फोटक पदार्थ रखे हो और कितनी ही सावधानी रखने के बावजूद भी यदि प्रमादवश कभी आग पकड ले तो सुरक्षा के लिए रखे गये वे पदार्थ न केवल घर को ही भस्मीभूत कर देंगे, अपितु निकटवर्ती निवासियों का जीवन भी सकट में डाल देंगे। इसी प्रकार अणुअस्त्रों की हिफाजत में तनिक भी स्खलना होने पर स्वत राष्ट्र मृत्यु के मुख में चला जा सकता है। परराष्ट्र विनाश की वस्तु स्वराष्ट्र की रक्षा तब कहाँ कर पायगी? एक बार आइन्स्टाइन ने मार्मिक वाणी में कहा था "आणविक युद्धों में विश्व का सार्वभौम नाश निश्चित है।" ऐसे आणविक भस्मासुर से तब ही बचा जा सकता है जबकि विनाशकारी प्रयोगों से सर्वथा वनानिक मुख मोड लें।

इस विषय पर चिन्तन करते हुए एक पौराणिक आख्यान "पुनर्मूषिको भव" स्मृतिपटल पर अंकित हो आता है।

किसी तपोवन में एक ऋषि का निवास था। एक दिन एक मूषक (चूहा) दौडता हुआ ऋषि की शरण में आया। शरणागत की रक्षा करना अपना परम कर्तव्य समझकर ऋषि ने उसे पकडने के लिए पीछे भागती हुई बिल्ली को भय का कारण मानकर "त्वमपि मार्जारो भव" तू भी बिल्ला हो जा का वरदान दे डाला। ऐसा ही हुआ। बिल्ली चली गई। एक दिन भयंकर कुत्ता के बिल्ला के पीछे लगने पर शरणागत बिल्ला से ऋषि ने कहा "त्वमपिश्वानो भव" तू भी कुत्ता हो जा। जब एक दिन एक बाघ उस पर झपटने लगा तो ऋषि ने कहा—"त्वमपि व्याघ्रो भव" तू भी बाघ होजा। फिर एक दिन सिंह आया तो ऋषि ने बाघ को—"त्वमपिसिंहो भव" तू भी सिंह हो जा, का वरदान दे दिया। अब वह चूहे से सिंह हो गया था। शरणागत सिंह ने एक दिन क्षुधातुर होने से इतस्तत घूमते हुए ऋषि को ही अपना भक्ष्य बनाने का सोचा। इस पर ऋषि ने कहा—अरे दुष्ट, मैंने तेरी

रक्षा के लिए तुझे चूहे से सिंह बनाया, अब मुझे ही खाना चाहता है। जा, "पुनर्मूषिको भव" वापस चूहा हो जा। ऋषि ने पुन. उसे उसकी मूल स्थिति मे परिवर्तित कर दिया। जिस प्रकार ऋषि ने सिंह को मूषक बनाकर अपनी माया समेट ली, इसी तरह मानव जाति के कल्याणार्थ यदि वैज्ञानिक अपनी माया समेट ले तो विश्व कल्याण और विश्व शान्ति हो सकती है। यद्यपि विनाशक अस्त्रो को भी कुछ लोग शान्ति का सोपान मानते हे। ऐसे ही लोगो को लक्षित करते हुए डॉ० ओपन हीमर ने कहा—"दो भयंकर बिच्छू एक बोतल मे बन्द कर दिये जाएँ तो सहज ही यह सोच-सोचकर एक दूसरे से डरते रहेगे कि यदि एक दूसरे को काटेगा तो दूसरा भी अपना चमत्कार बिना बताए नही रहेगा और यो एक दूसरे की मृत्यु का समान और निश्चित अवसर है।" बिच्छू एक-दूसरे को डसेगा नही यह कैसे माना जाय ? मनुष्य बिच्छू से कही अधिक विषैला है जो स्वय मकड़ी के समान जाल बनाकर अपने आपको फसाता है पर इस प्रकार आणविक जालो की शक्ति का स्वामी होने के बावजूद भी वह मानसिक शाति का अनुभव कहाँ कर पाता है।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू आदि जैसे कई मानव कल्याणकामी विश्व प्रसिद्ध नेताओ ने कई बार बहुत स्पष्ट शब्दो मे सूचित किया है कि प्राण-घातक शस्त्रो का प्रयोग कतई बन्द हो जाना चाहिए।

रोम के इतिहास मे एक कहावत बन गई है कि "जब रोम जल रहा था तो नीरो बाँसुरी बजा रहा था।" उसने अपनी उपेक्षात्मक मस्ती मे रोम के कष्ट की तनिक भी परवाह नही की। शताब्दियाँ बीत गई, पर रोम के इतिहासकारों ने नीरो को क्षमा नही किया, बल्कि उसके दण्ड के लिए यह घृणास्पद कहावत उसकी उपेक्षा का प्रतीक बन गई। असामाजिक व्यक्ति को देखते ही नीरो का स्मरण हो आता है। ठीक यही स्थिति विश्व के प्रमुख राष्ट्रो की है। सभी शक्तिशाली गुट ज्वालामुखी के मुँह पर बैठकर आणविक अस्त्रो की बाँसुरी बजा रहे है। ज्वालामुखी के फटते ही वे नष्ट हो जाएँगे। कही ये सब नीरो की कहावत मे ही अपना अन्तर्भाव न करवा ले।

इक्कीस

वर्तमान युद्ध, विज्ञान और अणु शस्त्र

आज समस्त विश्व के सम्मुख सब से भयानक और दुखपूर्ण समस्या युद्ध की है। वे प्रतिक्षण आशंका में रहते हैं कि सामान्य तनाव भी कहीं विश्व युद्ध को जन्म न दे बैठे। यदि निकट भविष्य में बौद्धिक ज्वालाएँ प्रज्ज्वलित हुईं तो रोम रोम सिहर उठेगा। विश्व का समस्त मानव समाज भली भांति इस तथ्य से परिचित है कि युद्ध से कभी किसी को किसी प्रकार का लाभ नहीं होता। धन, जन और सभ्यता की हानि के साथ मानव संस्कृति के भालस्थल पर कलंक का टीका ही लगता है। विगत युद्धों के आंकड़े हमारे सम्मुख हैं। यद्यपि युद्ध के समय सामान्य नागरिक का उससे सीधा सम्बन्ध नहीं रहता फिर भी वह युद्ध के प्रभाव से अपने आपको नहीं बचा पाता। राष्ट्रों की महत्त्वाकांक्षाएँ जन-जीवन को धूमिल बना देती हैं। सदैव विनाश की तलवार सूत के कच्चे धागे से बंधी सर पर लटकती रहती है, जो तनिक सी हवा का झोंका खाकर गिर सकती है। सामाजिक जीवन युद्ध से विछिन्न हो जाता है। सामूहिक खाद्य सामग्री के अलावा कई जीवनोपयोगी वस्तुओं पर इसका जो भयंकर कालिक प्रभाव पड़ जाता है, वह शीघ्र नष्ट नहीं होता। विगत महायुद्ध का जो प्रभाव रिश्वतखोरी, चोर बाजारी अनैतिकता और व्यभिचार के रूप में भारत पर पड़ा है, वह आज भी मूलतः नष्ट नहीं हुआ।

विज्ञान ने आवश्यकतानुसार विभिन्न प्रकार के प्रयतन जल-पोत, टैंक, वायुयान, मोटर, तोप और तोपों आदि का निर्माण कर युद्ध वृत्ति को पर्याप्त प्रोत्साहित किया है। वैज्ञानिकों ने अपना अधिकांश समय उपयुक्त उपकरणों के पूरक उपायों के निर्माण में लगाया है। हमें देखना यह है कि आधुनिक युद्धों में विज्ञान और तज्जनित आणविक अस्त्र किस प्रकार प्रत्यक्ष

या परोक्ष इसे वल देते है।

अद्यतन युद्ध मुख्यत: स्थल सेना, जल सेना और वायुसेना पर निर्भर है। ये तीनो सेनाएँ पूर्णत यन्त्राधीन है। एक समय युद्ध के परिवहन के साधनो मे घोडे और खच्चरो का समावेश होता था। पर आज उनका स्थान मोटर, जीप, मोटरसाईकल और टैंकों ने ले लिया है। तलवार, भाले आदि भारतीय शस्त्र अव वहुत पुराने पड़ गये हैं। अव तो स्टेनगन, व्रेनगन और शक्ति शाली आग्नेयास्त्रो का युग है। दूर मारक तोपे आदि विज्ञान की परिणति है।

नौ सेना और वायुसेना तो केवल विज्ञान पर ही अधिक निर्भर है। तारपीडो, यू-वोट एव राडर इनके मुख्य उपकरण हैं। जो राष्ट्र इस प्रकार के वैज्ञानिक साधनो से सज्जित है, वे ही दूसरो पर अपना प्रभाव स्थापित कर सकते है।

यद्यपि अमेरिका के पास वायुयान प्रचुर परिमाण मे विद्यमान है, तो भी रूस की राकेट विपयक प्रगति अधिक सतोपजनक है। युद्ध मे वैमानिक अनिवार्यता स्पष्ट है। पर प्रक्षेपणास्त्रो ने इसका महत्त्व कम कर दिया है।

अद्यतन सेना की प्रत्येक शाखा मे वायरलैस, टेलीफोन, टेलीविजन, फोटोग्राफी और रेडियो आदि महत्त्वपूर्ण यत्रो का उपयोग होता है। यौद्धिक चिकित्सा के क्षेत्र मे भी विज्ञान की महिमा अपरम्पार है। रासायनिक पदार्थों से निर्मित तत्काल गुणदायक और प्रभावोत्पादक औपधियाँ विज्ञान ने दी। पौष्टिक तत्त्वो से सयुक्त ऐसी टिकियाएँ वनी जिनसे मनुप्य अपनी शक्ति भली प्रकार अधिक समय तक सुरक्षित रख सकता है। कहने का तात्पर्य है कि विज्ञान ने युद्ध के सामान्य से सामान्य समझे जाने वाले तत्त्व को भी गम्भीरतापूर्वक स्पर्श किया है। अतः मनुप्य की शरीर सम्वन्धी वीरता का अव कोई महत्त्व नही रह गया। युद्ध मे जय-पराजय का कारण जन सख्या, साहस पूर्ण वीरता या चातुर्य नही अपितु योजना, सगठन और कल-कारखाने है। जो युद्धलिप्सु राष्ट्र अधिकाधिक शस्त्रास्त्र वना सकते है, वे ही विजेता की कोटि मे आते है। आजकल प्रत्येक वस्तु मे महान् परिवर्तन दृष्टिगत होता है। अणु शक्ति के प्रावल्य ने अव युद्ध को अमानुपिक और

राक्षसी बना दिया है। मृत्यु की सदेशवाहिका विषाक्त वायु के भय से सैनिक खंदकों में रौरव का अनुभव करते हैं। किसी भी समय वे मृत्यु के मुख में जा सकते हैं।

यदि तृतीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हुआ तो सम्पूर्ण विश्व प्रभावित हुए बिना न रहेगा। अत भारत का यह सदैव हार्दिक प्रयत्न रहा है कि विश्व में जहाँ कहीं भी युद्धाग्नि की चिनगारी दीखे, तत्काल बुझा दी जाए। ऐसे प्रयत्नों में सौभाग्य से भारत को कई स्थानों में सफलता भी मिली है। वास्तविक बात यह है कि आक्रमण या सुरक्षात्मक कितनी ही यन्त्राधीन सामग्री का निर्माण क्यों न किया जाए, पर विज्ञानजनित सर्वनाश से मानव समाज को बचाए रखने का एक मात्र प्रयास विश्वशान्ति ही है, जिसकी भित्ति अहिंसा की सुदृढ़ शिला पर आधृत है।

बाईस

अणुपरीक्षण प्रतिवन्ध एवं निःशस्त्रीकरण

आज की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो को दृष्टिगत रखते हुए किसी को भी प्रसन्नता का अनुभव नही होता। निष्पक्ष और शान्ति वाछुक पर्यवेक्षक अमेरिका तथा पाश्चात्य देशो के वीच शस्त्रीकरण या अणुपरीक्षण के प्रतिस्पर्धामूलक दृष्किोण से दुखी होते है। आज दो दलो मे ससार विभक्त है। एक दल में अमेरिका व तदनुयायी राष्ट्र है तो दूसरे मे रूस व उसके अनुगामी राष्ट्र। दोनो मे विचार वैपम्य है। दोनों के प्रचार और विचार-विस्तार के अपने-अपने तरीके है।

14 अगस्त, 1940 को अमेरिका के राष्ट्रपति रूज़वैल्ट तथा इग्लैण्ड के प्रधानमंत्री सर विंस्टन चर्चिल की भेंट स्वरूप एटलांटिक सधि सम्पन्न हुई जिसमे कहा गया था कि "हमारा विश्वास है कि ससार के समस्त देशों को वास्तविक अर्थात् भौतिक एवं आध्यात्मिक कारणो से शक्ति के प्रयोग को अवश्य ही वन्द कर देना चाहिए।" इसका तात्पर्य यही था कि प्रत्येक राष्ट्र की पारस्परिक विरोधी समस्याओ का समाधान वार्तालाप के द्वारा ही हो, जिससे युद्ध के नाम पर धन-जन का विनाश न हो। युद्ध में किया जाने वाला व्यय यदि जनमगलकारी कार्यो पर लगाया जाए तो युद्ध के कारण ही सदा के लिए ससार से विदा हो जाएँगे।

सन् 1942 मे पुन. इग्लैण्ड, अमेरिका, रूस और चीन ने सामूहिक घोपणा की थी कि युद्ध की समाप्ति के पश्चात् वे सव मिलकर शस्त्रास्त्र विनिमय की व्यवस्था करेगे। वस्तुतः दो विश्व युद्धो की विनाश लीला से वे सव स्वाभाविक रूप से ही सूचित विचार पर आ गए थे।

दूसरे महायुद्ध के समय अमेरिका के पास अणु वम थे, जिनका प्रयोग उसने किया। इस युद्ध की समाप्ति के वाद नि शस्त्रीकरण की चर्चा ने पुनः

जोर पकड़ा। सन् 1945 में सानफ्रान्सिसको में संयुक्त राष्ट्र का चार्टर बनाया गया, जिसके 26 वें अनुच्छेद में उल्लेख है कि 'संघ की सुरक्षा परिषद शस्त्रास्त्रों के विनिमय के लिए कोई न कोई हल ढूंढेगी।' इन शब्दों से संयुक्त राष्ट्रसंघ का कर्त्तव्य हो गया था कि वह एतदर्थ ठोस विचार करे। तब से आज तक बहुत्तर राष्ट्र अणुशस्त्रों पर नियन्त्रण के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। किन्तु अभी तक आशा की प्राभातिक किरण का उदय दृष्टिगत नहीं हुआ। बल्कि इसके विपरीत परीक्षणों की प्रतिस्पर्धा को ही प्रोत्साहन मिला और प्रक्षेपणास्त्र जैसे तीव्र संहारक शस्त्रों के निर्माण में प्रचुर अर्थ व्यय हुआ।

जैसा कि ऊपर सूचित किया जा चुका है कि भारत अपने शान्तिपूर्ण प्रयत्नों के लिए प्रसिद्ध रहा है। वह चाहता है कि शस्त्रों के निर्माण व संरक्षण से जो महाहिंसा को प्रोत्साहन मिलता है, वह सदा के लिए बन्द हो। शस्त्रास्त्र परीक्षण शान्ति का मार्ग नहीं, शान्ति अहिंसा में निहित है। इसी भारतीय कल्याणकारी नीति को लेकर भारत के प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू निःशस्त्रीकरण पर बहुत अधिक जोर दे रहे हैं। उन्होंने कई राष्ट्रों के प्रधानों को पुनः-पुनः लिखकर सचेष्ट किया कि वे आणविक शस्त्रों का परीक्षण बन्द कर विश्व शान्ति स्थापन में योग दें।' पर इनका परिणाम यही रहा कि सभी राष्ट्र कहने लगे कि अमुक राष्ट्र यदि परीक्षण बन्द करेगा तब ही हम अपने प्रयोग स्थगित कर सकते हैं। दिनानुदिन अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में तनाव और खींचातानी बढ़ती ही जा रही है। शीत युद्ध की सृष्टि भी होने लगी है।

निःशस्त्रीकरण वाञ्छनीय होते हुए भी इसका मार्ग कंटकाकीर्ण है। प्रथम आणविक अस्त्रों पर नियन्त्रण कैसे और कब से लगाया जाए? द्वितीय, सामान्य शस्त्रास्त्रों में किस सीमा तक कमी की जाय? 1946 से लेकर आज तक इन कठिनाइयों को हल करने का अथक प्रयत्न किया गया है, लेकिन कभी पश्चिमी देश या अमरिका नहीं मानता है तो कभी रूस रूठ जाता है। अमेरिका तथा इंग्लैण्ड आदि पाश्चात्य देश चाहते हैं कि सबसे पहले एक अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण संस्था बना ली जाए और फिर आणविक अस्त्रों का निर्माण ही सदा के लिए समाप्त कर दिया जाए और रूस तथा

अमेरिका की सेनाओ मे 10-10 लाख सैनिको की कमी की जाय। किन्तु रूस ने इस बात को स्वीकार न करते हुए कहा कि सभी राष्ट्र अपनी सेनाओ मे $\frac{1}{3}$ कटौती कर आणविक शस्त्रास्त्रो को नष्ट कर दे। इस कार्य को सम्पादित करने के हेतु एक संस्था का निर्माण सुरक्षा परिषद के अधीन हो। दोनो गुटो ने अपनी अपनी ऐसी योजनाएं रखी जो पारस्परिक समझौतो से दूर थी। रूस इस बात पर तुल गया कि अणुशस्त्रो का प्रयोग सर्वथा अवैध घोषित किया जाय। 10 मई, 1955 को पुनः सोवियत रूस ने सयुक्त राष्ट्र सघ के समक्ष नि शस्त्रीकरण का प्रस्ताव रखते हुए कहा, 'आणविक शस्त्रो का निर्माण और प्रयोग अवैध घोषित किया जाना चाहिए और सामान्य सेनाओ मे पर्याप्त कमी की जानी चाहिए। बड़े राष्ट्रो की सेनाओ की जाच के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय नियत्रण सस्था निर्मित हो तथा सन् 1956 मे नि शस्त्रीकरण के सम्बन्ध मे विचार करने के लिए एक विश्व सम्मेलन बुलाया जाय और साथ ही कुछ राष्ट्रो ने, विदेशो में जो सैनिक सगठन बना रखे हे, उन्हे भी समाप्त कर दिया जाए।' इस प्रस्ताव पर संयुक्त राष्ट्रसघ की नि शस्त्रीकरण समिति ने विचार किया। इंग्लैण्ड आदि देशों ने प्रस्ताव की सराहना करते हुए स्वीकार किया कि रूस कुछ बाते तो मान गया है लेकिन इग्लैण्ड के प्रतिनिधि को नि.शस्त्रीकरण के सम्बन्ध मे रूस का प्रस्ताव कुछ अस्पष्ट-सा लगा। पश्चिमी देशो के अनुसार उस नियन्त्रणकारी सस्था के अधिकारियों को नि शस्त्रीकरण को स्वीकार करनेवाले देशो पर किसी भी स्थान पर जाने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए और वह प्रत्येक ऐसे देश मे रहे जो नि शस्त्रीकरण स्वीकार कर चुका हो। उनका तात्पर्य यह था कि रूस मे प्रस्तावित नियन्त्रणकारी वह सस्था प्रभावपूर्ण कार्यवाही नही कर सकेगी।

इस उपक्रम से विश्व आशान्वित था कि उभय गुटो मे कभी न कभी समझौता हो जाएगा। भविष्य के सम्बन्ध मे तो क्या कहा जा सकता है किन्तु वर्तमान अनुभवो के आधार पर तो यह कहा ही जा सकता है कि यह केवल वाणी का विश्वासमात्र था। इसका कोई सुन्दर व आशाजनक परिणाम नही निकला। प्रेसिडेट आईजनहावर के 'ओपन स्काइज प्लान' को भी रूस ने मान्य नही रखा। सन् 1958 मे लन्दन मे नि.शस्त्री-

करण उपसमिति का एक ऐसा सम्मेलन हुआ जिसमें सुरक्षापरिषद के सभी सदस्यों ने भाग लिया। यहाँ भी काफी समय तक विचार विनिमय करने के बाद भी आशाप्रद निष्कर्ष न निकला। उसी समय अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण भी ऐसा बन गया जिससे यह सारी योजना वैचारिक जगत तक ही सीमित रही और आखिर में रूस को इस सभा का बहिष्कार करना पड़ा। अब इस समस्या को संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में भारत के प्रतिनिधि ने उठाया था, जिसका उद्देश्य था कि निःशस्त्रीकरण के कार्य को और भी अधिक व्यापक बनाने के लिए शान्तिकामी सभी देशों को सम्मिलित किया जाए। हाल ही में रूस ने सुझाव दिया कि बड़े-बड़े राष्ट्रों के प्रधान मिल कर बैठें और इस प्रश्न पर पुनः विचार करें। पर अमेरिका असहमत रहा। उसके विचार में पहले तीन बड़े देशों के विदेश मन्त्री ही विचार करें और बाद में प्रधानों का सम्मेलन हो। बात तो सामान्य थी, मुख्य प्रश्न तो निःशस्त्रीकरण का था जिस पर कोई न कोई निर्णय शीघ्र होना अनिवार्य था। यदि बड़े राष्ट्र दर्पवृत्ति का परित्याग कर शस्त्रीकरण को समाप्त कर दें तो निश्चय ही जनजीवन में शान्ति साकार हो सकती है।

प्रसन्नता की बात यह हुई कि बुलगानिन एवं ख्रुश्चेव के सत्तारूढ़ होने के पश्चात् रूस की स्टालिन की सख्त और अन्य देशों के प्रति घृणा की नीति में भारी परिवर्तन हो गया। अब वहाँ के प्रधान मन्त्री किसी भी देश के साथ वार्तालाप द्वारा समाधान निकालने को तत्पर दिखलाई देते हैं। जेनेवा का सम्मेलन हुआ, जिससे आशा बँधी थी कि अब अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध समाप्त हो जाएगा। पर वहाँ भी दोनों जर्मन प्रदेशों को मिलाने की नीति के प्रश्न पर एक और विभेद खड़ा हो गया। इससे इतना लाभ अवश्य हुआ कि प्रतिद्वन्द्वी गुटों में सन्देह और गलत धारणाओं के बादल फट गए। इन घटनाओं के बाद पं० नेहरू रूस और अन्य देशों में शान्ति का सन्देश लेकर गए। रूस का कथित लौह आवरण उठ गया। रूस के प्रधानों के औदार्य के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्रों में नवीन धारणाएं सुदृढ़ हो गई। पं० नेहरू का शान्ति के लिए अमेरिका का प्रवास भी सुखद रहा। विश्व-युद्ध की स्थिति के सुधार में बल मिला। रूस और अमेरिका के बीच मैत्री का सूत्रपात हुआ। शीतयुद्ध में कमी हुई।

जेनेवा सम्मेलन में, जो 'लीग आफ नेशन्स' के प्रयत्नों से हुआ था, सोवियत संघ ने पूर्ण नि.शस्त्रीकरण को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान करने हेतु अन्य देशों का आह्वान किया था। पर वह प्रस्ताव हँसी में उड़ा दिया गया।

युद्धोत्तर काल में भी सोवियत संघ ने आणविक शस्त्रों का पूर्ण निरोध, शस्त्रास्त्र व सेनाओं में तीव्र कटौती, विदेशी राज्य क्षेत्रों में स्थापित सेना-सगम की समाप्ति तथा नि शस्त्रीकरण सम्बन्धी अनेक समस्याओं पर प्रस्ताव रखे। उसने स्वय ने भी बीस लाख से अधिक सैनिक कम कर दिए। अन्य देशों के रूसी सेनासगम समाप्त कर दिए। रूमानिया से सेना पुनः बुला ली। जर्मन लोकतन्त्रात्मक गणराज्य में भी सोवियत सेना कम कर दी और यह निश्चय किया कि यदि पश्चिमी राष्ट्र पहल नहीं करते वह आणविक हथियारों का पुन. परीक्षण न करेगा। खेद है कि सयुक्त राष्ट्र-संघ के चौदह वर्षों के अनवरत परिश्रम के बावजूद भी न केवल इस विषय में समझौता ही हो सका है वरन् शस्त्रीकरण की प्रतिस्पर्धा में विस्फोटक पदार्थ भी एकत्र हो गए हैं। जिनकी एक चिनगारी ही विश्वविनाश के लिए पर्याप्त है। विश्व में ऐसी स्थिति सृजित हो गई है कि यदि उद्जन बम ले जानेवाले वायुयान के किसी यन्त्र में खराबी हुई या नियन्त्रक से किसी भी प्रकार क्षणिक प्रमाद भी हो गया तो विश्वयुद्ध छिड़ सकता है। ऐसे नाजुक समय पर भी निकिता ख्रुश्चेव (सोवियत सघ के मंत्री परिषद् के अध्यक्ष) ने गत १८ सितम्बर, १९५९ को पुन. संयुक्त राष्ट्र सघ के सम्मुख प्रस्ताव रखा "सभी देश चार वर्षों के भीतर पूर्णत· नि शस्त्र हो जाएँ, ताकि युद्ध छेड़ने के लिए उनके पास कोई साधन ही न रहे।" साथ ही उन्होंने जल, स्थल और नभ सेनाओं को सर्वथा हटाने एवं शस्त्रास्त्रों का निर्माण सर्वथा बन्द करने का प्रस्ताव श्री आईक के समक्ष रखा था। आईजनहावर द्वारा रूस का यह प्रस्ताव सत्कृत हुआ।

यह प्रस्ताव सोवियत सघ के दुर्बल प्रतिनिधि की ओर से नहीं, वरन् विश्व के सर्वोच्च शक्ति सम्पन्न सोवियत सघ के मन्त्री परिषद् के अध्यक्ष की ओर से आया है। जिसने चन्द्रमा को वेधकर समस्त विश्व से अपना लोहा मनवा लिया है। स्वभावत. इसको हवा में नहीं उड़ाया जा सकता। इस

प्रस्ताव ने तत्काल ही संयुक्त राष्ट्रसंघ का और विशेषतः विश्व के समस्त राष्ट्रों का ध्यान आकर्षित किया। इसी प्रस्ताव के परिणामस्वरूप सूचित-देशों की सरकारों के अध्यक्षों ने अपने संयुक्त वक्तव्यों में कहा कि निःशस्त्रीकरण की समस्या ही आज विश्व की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समस्या है और वे इस समस्या का रचनात्मक हल निकालने में कोई भी प्रयास उठा न रखने के लिए कटिबद्ध हैं।

इस प्रकार एक ओर जहाँ निःशस्त्रीकरण एवं अणुशस्त्र परीक्षण बन्द करने का प्रयत्न हो रहा है वहाँ दूसरी ओर भयानक अणुबम व उदजन बमों के परीक्षण भी चालू हैं। इनसे एशियाई देशों को पर्याप्त हानि उठानी पड़ी है। सन् 1955 की उत्तर भारतीय बाढ़ें, वैज्ञानिकों के मतानुसार रेडियम धर्मिता का ही परिणाम था। इसी कारण जुलाई सन् 1960 में लन्दन में राष्ट्रमण्डलों के मन्त्रियों के सम्मेलन में पं० जवाहरलाल नेहरू ने ऐसे विस्फोटों पर रोक लगाने का प्रश्न उठाया था और अनेक बार अन्य सम्मेलनों में भी उन्मादपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा का तीव्र विरोध किया था।

अभी अभी फ्रांस ने भी विश्व लोकमत की उपेक्षा करते हुए सहारा के रेगिस्तान में अणुबम का विस्फोट किया, जिस पर चारों ओर से भारी विरोध प्रकट किया गया। अफ्रेशियाई संगठन की भारतीय संस्था की अध्यक्षा सुश्री रामेश्वरी नेहरू ने फ्रांस सरकार द्वारा सहारा में किये गए अणु विस्फोट के प्रति विरोध करते हुए कहा कि फ्रांसीसी सरकार ने विश्व जनमत तथा संयुक्त राष्ट्रसंघीय प्रस्तावों की जानबूझ कर उपेक्षा की है। जापान, घाना, मोरक्को, सूडान और ट्यूनीशिया की ओर से भी विरोध व्यक्त किया गया। अमेरिका और रूस भी फ्रांस के इस कृत्य पर प्रसन्न नहीं हैं। इसी प्रश्न पर मोरक्को ने फ्रांस से अपना राजनयिक सम्बन्ध ही विच्छेद कर दिया और घाना द्वारा आर्थिक प्रतिबन्ध का विचार किया गया है। फ्रांस के इस विस्फोट से उत्पन्न रेडियम सक्रिय धुएँ का बादल सूडान, मिस्र, सऊदी अरब तथा भारत की पूर्व दिशा में बढ़ रहा है। इस बादल की निचली सतह जो दस हजार फीट तक की ऊँचाई पर है, अफ्रीका पूर्व की ओर गतिमान है। उत्तर की ओर भी धुआँ आया है।

इस प्रकार के विस्फोटों पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए जनता उत्पन्न में

नये प्रस्ताव पेश किए गये हैं। जो लोग सच्चे हृदय से शान्ति की मनोकामना द्वारा मानवता को जीवित रखना चाहते हैं, उन्हे पूर्ण नि शस्त्रीकरण एवं आणविक प्रयोग प्रतिबंधार्थ न केवल तत्पर ही रहना चाहिए, अपितु, कृत संकल्प होकर संघर्ष भी करना चाहिए। प्रसन्नता की बात है कि विनाशक शक्ति सम्पन्न रूस भी शान्ति की कामना करता है।

तेईस

अहिंसा और विज्ञान

यदि हम सहज रूप में कहें तो विज्ञान मानव शरीर का खाद्य है और अहिंसा आत्मा का। विज्ञान बाह्य तत्त्वों का पोषण करता है तो अहिंसा आभ्यन्तरिक तत्त्वों की पुष्टि करती है। एक पाश्चात्य विचारक का कथन है कि विज्ञान ने हमारे शरीर की सुविधाएँ बढ़ाईं, नित्य नवीन साधन प्रसाधन प्रदान किये। पर उनसे आत्मा को क्या मिला? कुछ नहीं। वास्तव में विचारक का उक्त कथन हमारे लिए चिन्तनीय है। आज राष्ट्र के मूर्धन्य मनीषियों को इस पर गहराई से विचारना है। क्योंकि वर्तमान युग एक अशान्ति काल में से गुजर रहा है कि उसके सम्मुख विविध समस्याएँ खड़ी हैं। एक ओर विश्वशान्ति की समस्या तो दूसरी ओर अणु अस्त्रों के निर्माण की प्रतिद्वन्द्विता। जिसने राष्ट्र के विचारशील नेताओं को चिन्तित बना डाला है। आज कोई भी देश या राष्ट्र निर्भय प्रतीत नहीं होता। आणविक युद्धों की विभीषिकाओं में सारा विश्व अशान्त और व्याकुल है। वह सोता है तो रात दिन आणविक अस्त्रों का उपधान लगाकर। न जानें कब किधर से आक्रमण हो जाए और कब हम प्रलय के गर्भ में अन्तर्ध्यान हो जाएँ! इस प्रकार की आशंकाओं से मानव समाज निरन्तर घिरा हुआ है। इसी अव-दशा में विज्ञान के मूर्धन्य प्रो० अल्बर्ट आइन्स्टाइन की अन्तिम आह से मानव-समाज के लिए यह उद्गार निकला था—

'हम मानव होने के नाते अपने मानव बन्धुओं से अनुरोध करते हैं कि आप अपनी मानवता को याद रखें और शेष सब कुछ भूल जाएँ। यदि आपने ऐसा किया तो आपके लिए स्वर्ग का अभिनव द्वार खुल जाएगा। यदि आप ऐसा नहीं कर सके तो संसार की सार्वभौम मृत्यु का खतरा आपके

सामने होगा।"[1]

भारत के सुप्रसिद्ध महान् दार्शनिक डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में—

"वैज्ञानिकों ने अब तक ऐसे हथियार हासिल कर लिये हैं, जिनसे पल-भर में समूची पृथ्वी की मनुष्य जाति को मिटाया जा सकता है। समस्त संसार के नेताओं के सामने अब सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण समस्या यही है कि मानव समाज को इस प्रलय से कैसे बचाया जाए। हम लोग परमाणु युग के अन्धकारमय वातावरण में जीवन-रक्षा के लिए संघर्ष कर रहे हैं और विज्ञान की महान् सफलताओं ने हमारे मन में इतना भय-आतंक फैला दिया है कि हमें लगता है कि हम किसी अन्धी मशीन के विकराल शिकंजों में फँस गये हैं। गृह विहीन हो गये हैं। हम लोग किसी भयानक गड्ढे के कगार पर खड़े हैं या शायद उसमें धँसते भी जा रहे हैं।"

सचमुच आज विज्ञान मानव का त्राण नहीं कर सका। उसको जड़ प्रधान बनाकर उसकी मानवता का अपहरण किया है। विज्ञान का परिणाम मानव ने जितना सुन्दर और अभिलषित समझा था, उतना वह नहीं निकला।

विश्वशांति और अहिंसा

इस भयाक्रान्त युग में मानव जाति का वास्तविक त्राण खोजा जाए तो वह अहिंसा में ही मिल सकता है। विज्ञान अब तक इन ध्वंसात्मक अस्त्रों का प्रतिकार करने में असमर्थ रहा, और निकट भविष्य में भी उससे सुरक्षा की आशा नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में विज्ञान के साथ अहिंसा का क्रान्तिकारी सिद्धान्त संलग्न हो जाए तो विश्वशान्ति संभावित है। अहिंसा का अस्तित्व जन-जन के मन में कायम किया जाए तो विश्वशान्ति सक्रिय रूप धारण कर सकती है और जो विश्व-आयुधों के ज्वालामुखी पर खड़ा है, वह हिमालय की सुशीतल एवं शान्त गोद में विश्राम पा सकता है।

वर्तमान में जो परीक्षण विरोध तथा निःशस्त्रीकरण की दिशा में

---

1. We appeal as human beings to human beings. Remember your humanity and forget the rest. If you can do so the way lies open to a new paradise. If you can not do so there lies before you the risk of universe death.

—Elbert Enstiens. July 1955.

बहुत सारे अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्न चालू है, उनमें अहिंसा का ही क्रान्तिकारी सिद्धान्त कामयाब हो सकता है, ऐसा विश्वास है। बहुत से वैज्ञानिकों का भी यह अभिमत है कि वैज्ञानिकीकरण से मनुष्य शान्ति नही पा सकता। शान्ति का साम्राज्य कायम करने के लिए अपने अन्तर में अहिंसा को उद्-बुद्ध करना होगा। निःशस्त्रीकरण में राष्ट्रों को जो शान्ति के परमाणु नजर आ रहे हैं वे वैज्ञानिक शस्त्रीकरण में नही। आज राष्ट्र के बड़े-बड़े नेता यही कहते हुए दिखाई पड रहे है कि विश्वशान्ति युद्धों में नही, अहिंसा और प्रेम में ही सम्भवित है।

यदि वैज्ञानिक लोग अहिंसा के महान् सिद्धान्त को स्वीकार कर यह दृढसंकल्प हो जाएँ कि हम अब से इस प्रकार के अस्त्रों का निर्माण नही करेंगे, जिनसे मनुष्य जाति का विनाश होता है। तो मैं समझता हूँ कि बहुत शीघ्र ही प्रश्न जय विभीषिकाओं का संसार से अन्त हो जाएगा, और विश्व फिर से शान्ति की सांस लेने लग जाएगा।

हिंसा का प्रतिकार अहिंसा से

वर्तमान युग में विज्ञान दानव ने भयानक हिंसा के साधन प्रस्तुत किये है। उन सबका प्रतिकार अहिंसा के द्वारा ही किया जा सकता है। हिंसा के द्वारा हिंसा का उन्मूलन कर अहिंसा की प्रतिष्ठा करने का विचार एक प्रकार से मानव के मस्तिष्क का दिवालियापन है। स्याही से सने वस्त्र को स्याही से धोना बुद्धिमत्ता नही कहला सकती, ठीक उसी प्रकार हिंसा का प्रतिकार अहिंसा से ही किया जा सकेगा। यदि कोई यह कहे कि हम हिंसा का प्रतिकार हिंसा से ही करेंगे—तो यह केवल उनकी दुराशामात्र है।

प्राचीन काल में हिंसा के साधन आज की भांति शक्तिशाली और दूर-दूर तक प्रभाव डालने वाले नही थे। आज जब ऐसे अगणित साधन निर्मित हो चुके हैं और हिंसा अत्यन्त शक्तिशाली बन गई है, तब उसका प्रतिकार करने के लिए अहिंसा को अधिक सक्षम बनाने की आवश्यकता है। इसलिए आज अहिंसा के पक्ष में प्रत्येक व्यक्ति को बुलन्द आवाज उठानी है। कारण यह है कि हमारे यहाँ विभिन्न युगों में कठिन से कठिन समस्याओं को सुल-झाने में अहिंसा पूर्ण सहयोगी रही है। इसीसे जन-समाज के सम्मुख उसके

नवीनतम रूप आते रहे हैं। वास्तव मे देखा जाए तो अहिंसा की उपयोगिता अमर्याद और अचिन्त्य है।

अहिंसा का चमत्कार

अहिंसा विश्व की आत्मा है। भयभीतों की शरण है। भूखो का भोजन और प्यासो का पानी है। इसलिए अहिंसा का स्थान सभी दर्शन और धर्मों मे विशिष्ट है। अहिंसा ने वर्तमान युग मे वे कार्य करके दिखलाए है, जो अब तक मानव की कल्पना मे परे थे। जिसका ज्वलत उदाहरण 44 करोड़ भारतवासियो की स्वतन्त्रता, कोरिया का गृह-युद्ध और हिन्द-चीन की अन्तरग समस्या है। प्रस्तुत घटनाएँ हमे अहिंसा की ओर मुड़ने के लिए प्रोत्साहित करती है।

आज अहिंसा का मार्ग सबसे अधिक प्रशस्त बनाने की आवश्यकता है। अहिंसा को केवल सामयिक नीति के रूप मे न अपनाकर सिद्धान्त के रूप में अपनाने की आवश्यकता है। जब अहिंसा केवल सिद्धान्त के रूप मे न रहकर आचरण के रूप मे आयेगी तभी देश और राष्ट्र की विकट समस्याएँ समाप्त हो सकती हैं।

सारांश यह है कि यदि विज्ञान पर अहिंसा का वरदहस्त रहा तो विज्ञान मानव जाति के ध्वंस के बदले स्वर्ग का एक अभिनव द्वार खोल देगा। इसलिए आज के इस वैज्ञानिक युग में अहिंसक वातावरण निर्माण की दिशा मे राष्ट्र के महान् अहिंसा प्रेमियो को बहुत कुछ आगे बढना है।

चौबीस

विश्व-शांति अहिंसा से या अणुअस्त्रों से ?

मानव आज अहिंसा और अणु अस्त्रों के मार्ग पर खड़ा है। एक मार्ग निर्माण का है तो दूसरा ध्वंस का। एक प्रेम, मैत्री, शांति, मानवता, सुरक्षा और अभ्युदय का है तो दूसरा हिंसा, घृणा, अशांति, भय और प्रतिशोधात्मक भावना का है।

भारतीय समय तत्त्वचिंतकों की दृष्टि सदैव ही आध्यात्मिक रही है। तभी तो मनीषियों ने अंतरंग दृष्टि-सम्पन्न अहिंसा का मार्ग ही अपनाया है। विश्व को, अपनी साधना का सच्चा अनुभव बताते हुए, इसी प्रशस्त पथ पर चलने को प्रोत्साहित किया है। पूर्व और पश्चिम की संस्कृति में सबसे बड़ा और मौलिक अन्तर यही है कि प्रथम संस्कृति अंतरंग को ही श्रेयस्कर और विश्व-शांति का जनक मानती है तो दूसरी बहिरंग पर आश्रित है। प्रथम पद्धति रोग के कारणों का समाप्त करने की चेष्टा करती है तो दूसरी उसे दबाकर ही संतुष्ट हो जाती है। पूर्णतः नष्ट करने की क्षमता उसमें नहीं।

बाह्य दृष्टि सम्पन्न पश्चिमीय लोग मानवीय विकारों को दूर करने के लिए, मानव में आये हुए युद्धजनित दोष, विचार जनित विकार, घृणा, द्वेष, संघर्ष, कलह, स्वार्थलिप्सा और सत्तालिप्सा आदि दोषों को समूल नष्ट करने के लिए अणुअस्त्र प्रयुक्त करते हैं।

अमेरिका को स्वरक्षा के लिए एटलांटिक महासागर के इस पार यूरोपीय देशों में भी अपनी सत्ता प्रस्थापित करना आवश्यक प्रतीत होता है। दूसरी ओर प्रशांत व हिन्द महासागर में भी अपने सेना-अड्डे बनाए रखने की प्रवृत्ति प्रतीत होती है। पर उसे यह चिन्ता नहीं कि अपनी राष्ट्र विस्तारवादी नीति के महाचक्र में छोटे मोटे देश घुन की तरह पिस जाएँगे। लेकिन आज विश्व-स्थिति पर्याप्त परिवर्तित हो चुकी है। एशियाई राष्ट्र नवजागरण की

अंगड़ाईयां लेकर उपनिवेशवाद की बेड़ियों से मुक्त हुआ चाहते हैं—हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में यदि पश्चिमीय सत्ताधीशों की वही पुरानी नीति रही तो निःसंदेह पारस्परिक मानवीय सम्बन्धों की स्थिति संदिग्ध हो जाएगी। मानव इतिहास से यही शिक्षा ग्रहण करता है कि युद्ध या ऐसे ही घृणित विगत कार्यों से जो स्खलनाएँ हुई हैं उनकी पुनरुक्ति न हो।

चर्चिल, रूजवेल्ट, स्टालिन, हिटलर, मुसोलिनी, टोजो और उनके अनुयायी महायुद्ध के लिए धर्म, ईश्वर और शांति की दुहाई दे रहे थे। अब अणु-अस्त्र के गर्भ में विश्वशांति के बीज खोजे जा रहे हैं। यह दृष्टिकोण ही गलत है। ध्वंस में निर्माण की कल्पना असंभव है।

विगत दो महायुद्धों में संसार ने भली-भाँति अनुभव कर लिया है कि महासमरों द्वारा संसार में सुख और शांति का साम्राज्य स्थापित नहीं किया जा सकता। जो ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य व कालुष्य व्यष्टि तक सीमित था वह उन दिनों राष्ट्रव्यापी हो चला था। प्रतिशोध की भावना स्वभावतः विजित जनता में होती है। विश्वशांति का उपाय क्या है और वह कैसे हो, इसकी चिन्ता विशुद्ध भौतिकवादी दृष्टि सम्पन्न राजनीतिज्ञ कहाँ कर पा रहे हैं। यह मानना पड़ेगा कि आज समस्त राष्ट्र किसी न किसी सीमा तक अशांत है। आणविक शक्ति ने और भी इस अशांति की ज्वाला को भड़काया है। पारस्परिक असहयोग व अविश्वास की भावनाएँ बढ़ती जा रही हैं। आज का सेनापति अपने कमरे में बैठकर युद्ध-नीति का संचालन करता है।

पुरातन काल में रामायण, महाभारत के महायुद्ध हुए हैं। पर इनसे विश्वशान्ति पर कभी संकट के बादल नहीं मंडराये। पर आज स्थिति भिन्न है। यदि आज कोरिया पर आक्रमण होता है तो विश्वशान्ति खतरे में पड़ जाती है। काश्मीर, स्वेज या भारत द्वारा चीन पर आक्रमण होता है तो भी विश्वशांति संदेह की कोटि में आ जाती है। तात्पर्य यह है कि एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र के प्रति तनिक भी असावधानी हुई कि तत्काल वह विश्व-शान्ति का प्रश्न बन जाता है। परिताप की बात तो यह है कि भौतिक शक्ति के उन्माद में उन्मत्त राष्ट्र अपनी शस्त्र शक्ति द्वारा शान्ति के स्वप्न संजोते हैं। नाना प्रकार के तर्क-वितर्कों द्वारा स्वसिद्धान्त पोषणार्थ प्रयत्नशील हैं। वे यह सोचते हैं कि जो अधिक शक्ति सम्पन्न होगा उस पर आक्रमण

करने की कोई चेष्टा नही करता। अतः स्वतः ही विश्वशांति स्थापित हो जाएगी। पर यह तो मृत्यु से बचने के लिए सर्प का सहारा लेने के समान होगा। हाँ, शक्ति के बल पर सीमित समय तक किसी को पदाक्रान्त किया जा सकता है, पराजित किया जा सकता है और बाह्य दृष्टि से कुछ क्षणों के लिए शान्ति की झलक भी दिखलाई पड सकती है, किन्तु कोई भी पराजित राष्ट्र विजेता के प्रति सद्भावना नही रखता। बल्कि उसमें प्रति-शोध की तीव्र भावना रहती है। शक्तिहीन तभी तक मौन या निष्क्रिय रह सकता है जब तक वह समुचित प्रतिरोधात्मक शक्ति का सचय नही कर लेता। वह विवश होकर ही विजेता का शासन मानता है, वह भी अपने तन पर, न कि मन पर। जर्मन और जापान के उदाहरण हमारे सामने हैं।

प्रथम महायुद्ध की विभीषिका को सदा के लिए समाप्त करने की भावना से उत्प्रेरित होकर ही इंग्लण्ड ने जर्मनी पर बम गिराये, जिनकी विशाल शक्ति से उसे पगु बनाकर पराधीनता की बेडियों में जकड लिया। उस समय तो ऐसा लगा कि युद्ध समाप्त हो गया और शान्ति स्थापित हो गई। पर जर्मन के हृदय में प्रतिशोध की भावना ऐसी पनपने लगी कि भीतर ही भीतर विपक्त प्रायुद्ध और सशक्त अस्त्रों के निर्माण में वह जुट गया। अवसर पाकर उसने द्वितीय महायुद्ध में विनाश का जो ताण्डव दिखाया और उससे सम्पूर्ण विश्व को कितनी हानि उठानी पडी, जिसके फलस्वरूप यूरोप के लगभग सभी राष्ट्र न केवल युद्ध के लिए सज्जित ही हुए बल्कि इसी के परि-णाम स्वरूप हीरोशिमा और नागासाकी-जैसे भीषण नरसहार भी हुए। तात्पर्य यह कि पराजित राष्ट्र के अन्तस्तल में यदि तनिक भी प्रतिशोध की भावना रही तो अवसर पाकर कभी भी वह विशाल ज्वाला का रूप ले सकती है। क्योंकि सहार-शक्ति शारीरिक नियत्रण तक ही सीमित रहती है, आत्मिक नियत्रण के लिए वह अक्षम है। रूस, फ्रास और चीन की राज्य क्रान्तियाँ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

अब अहिंसा का प्रयोग देखिए। जहाँ अहिंसा और प्रेम के द्वारा मानव मन पर अधिकार किया जाता है वहाँ का प्रभाव स्वभावतः ही चिर-स्थायी होता है। विजित जनता वहाँ पराजयादभूत ग्लानि का अनुभव नही

वाहिनी रही है। विश्व-शान्ति के लिए भारतीय सेना का अधिकाधिक उपयोग वांछनीय है। चिन्तन की बात है कि जब जड़ पदार्थों मे भयंकर विनाशलीला की शक्ति है, तो भला जीवित मानव की साधना मे कितनी तेजस्विता छिपी होगी ? जीवन को शुद्ध करने वाली अहिंसा ही सर्वांगीण विकास को अवकाश देती है। वह मानव को ऐसा दृष्टिकोण प्रदान करती है, जिससे संघर्ष और प्रतिहिंसा ही समाप्त हो जाए। प्रसन्नता की बात है कि अमेरिका और रूस ने अहिंसा की दिशा में चरण बढ़ाने प्रारम्भ कर दिए है। वे अब अनुभव करने लगे हैं कि अणु अस्त्ररूपी दानव की समस्या अहिंसा द्वारा ही हल हो सकती है। अतः अहिंसा शक्ति के अग्रदूत पं० जवाहरलाल नेहरू को बार-बार आमन्त्रित किया जाता है। जहाँ किसी समय विदेशी आकाशवाणी द्वारा पं० नेहरू के विरोध में धुंआधार प्रचार किया जाता था, वहाँ आज इन्हे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का सन्देशवाहक माना जाने लगा है। किसी समय कहा जाता था कि भारत की भी क्या कोई नीति है ? पर आज भारत की नीति प्रशंसा के साथ अनुकरणीय मानी जाती है।

अभी-अभी सन् 1960 मे आइजनहावर और ख्रुश्चेव भारत-यात्रा कर चुके है और भारतीय नीति की सराहना भी कर गये हैं। अणुशस्त्रो के स्वामियो को अपने आयुधो पर शान्ति स्थापन विषयक विश्वास होता तो वे कदापि भारतीय रीति-नीति का समर्थन नही करते।

अब भी यदि आयुद्धवादियो की श्रद्धा अणुशस्त्र द्वारा विश्वशान्ति स्थापित करने मे है, तो उनके सम्मुख सहज रूप से ये प्रश्न आते है—

1. अणुशस्त्र मार्ग से मानव जाति अहिंसा की ओर गतिमान न हुई तो खतरा मानने मे भी कोई सदेह रह जाता है ?
2. आणविक शस्त्रो के निर्माण, संरक्षण और प्रयोग करते समय दुर्घटनात्मक यदि विस्फोट हो गया तो क्या विश्वशान्ति पर सकट नहीं आयेगा ?
3. आयुद्ध निर्माण की पृष्ठभूमि मे रचनात्मक बुद्धि है या आक्रामक ? यदि रचनात्मक है तो क्या आप ईमानदारी के साथ कहने की स्थिति मे है कि हम कभी किसी भी राष्ट्र पर अणु-आयुद्ध प्रयुक्त नही करेंगे।

4 क्या आणविक अस्त्रजनित विकीर्ण रेडियो सक्रिय धूलि से संभावित हानि से आप मानव जाति को नाश या अशान्ति की ओर नहीं ले जा रहे हैं ?

5 क्या अणुअस्त्र प्रयोग का भयंकर विनाश-ताण्डव प्रत्यक्ष देखते हुए भी इस ध्वंस के प्रतीक को विश्वशान्ति के लिए उपयोगी मानेंगे ?

हासिक घटनाएँ भी मिल सकती हे। यह तो एक माना हुआ तथ्य है कि बड़े-बडे साम्राज्यो की स्थापना सदैव दुर्बल राष्ट्रो के शोषण से ही सम्पन्न हुई है। इसलिए अहिंसा की शक्ति को मर्यादित किया गया। केवल निर-पराध राष्ट्रो पर जान-बूझकर आक्रमण न करके राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए, अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए और प्रत्येक राष्ट्र को स्वय समर्थ बनाना अनिवार्य माना गया। फलत' मानव ने क्षम्यरूप से हिंसा को अपनाया।

यद्यपि मानव सभ्यता इतनी विकसित हो गई हे कि विश्व के इतिहास ने महात्मा गाधी के अहिंसात्मक प्रयोगो द्वारा नया मोड़ लेने पर भी विवादों को सुलझाने के लिए अन्ततोगत्वा हिंसात्मक साधन ही प्रयुक्त होते हैं। इस सम्बन्ध मे उनकी कई बाते विचारणीय हे।

1 अगर विगत विश्वयुद्धके बीच इग्लैण्ड, फ्रास तथा अन्य मित्रराष्ट्र शीघ्र ही युद्ध सामग्री एकत्र न करते तो निश्चय ही लोकतन्त्र तथा सभ्यता नाजियो के पैरो तले रौंदी जाती।

2. काश्मीर तथा भारतीय सेनाएँ काश्मीर मे कबालियों के आक्रमण का अवरोध न करतीं तो काश्मीर आज खण्डहर के रूप मे दृष्टिगत होता।

3. यदि भारत सरकार रजाकारो एव हैदराबाद राज्य के विरुद्ध पुलिस कार्यवाही न करती तो कथित उपद्रव सम्पूर्ण दक्षिण भारत मे फैल जाते।

4. इसी प्रकार उपद्रवी नागा लोगो ने जब शान्तिपूर्वक समझना न चाहा तब स्वर्गीय गृहमत्री पडित गोविन्दवल्लभ पन्त को उनके विरुद्ध कठोर कार्यवाही करनी पड़ी।

5. इण्डोनेशिया के युद्धो मे से भी यह बात प्रकट होती है। वहाँ के राष्ट्रदल तनिक भी दुर्बलता बताते तो विदेशियो का प्रभुत्व स्थापित हो जाता। अर्थात् कोरिया मे अमेरिकन आधिपत्य स्थापित कर लेते और इण्डोनेशिया में फ्रासीसी।

6. इसी प्रकार भारतीय शासन कठोरता के साथ साम्यवादियों के

विरुद्ध कदम न उठाता तो निश्चय ही नागरिक जीवन दुखद हो जाता।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आज भी हिंसा शक्ति पर विश्वास किया जाता है। ऐसा लगता है अब तक कोई राष्ट्र या व्यक्ति व्यवस्थित व न्यायपूर्ण मार्ग पर चलना सीखे ही नहीं। अनियंत्रित मानव की स्वभावजन्य प्रवृत्तियाँ अभी नष्ट नहीं हुई। अहिंसात्मक प्रयोग के लिए विश्व के सभी बड़े राष्ट्रों ने मिलकर राष्ट्र संघ जैसी व्यापक और महत्त्वपूर्ण संस्था का इसलिए निर्माण किया कि समस्त विवादों को वार्तालाप द्वारा निपटाया जाए। किन्तु शस्त्रों की प्रतिस्पर्धा कम नहीं हुई। यह सच है कि विश्वयुद्ध की समाप्ति पर कतिपय मित्र राष्ट्रों ने सेना में कटौती की। लेकिन इससे भी भयंकर परमाणु शक्ति द्वारा निर्मित बमों का काम है। अन्तर्द्वीपीय प्रक्षेपणास्त्र भी उपेक्षणीय नहीं। सिद्धान्ततः निःशस्त्रीकरण उपयुक्त है। पर इसके प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण कहाँ अपनाया जाता है? जब भी यह प्रश्न उठता है तब यह समस्या खड़ी हो जाती है कि प्रथम पहल कौन करे? क्या सामूहिक निःशस्त्रीकरण सम्भव नहीं है? सच बात तो यह है कि जब तक किसी भी राष्ट्र या उसके नेताओं के हृदय में करुणा की भावना का उदय नहीं होता तब तक मस्तिष्क पटल की योजनाएँ न साकार हो सकती हैं और न राष्ट्रों में पारस्परिक दृढ़ विश्वास ही उत्पन्न कर सकती है।

सभ्यता का विकास अस्त्रों द्वारा हुआ हो—ऐसा कोई उदाहरण विश्व इतिहास में उपलब्ध नहीं है। विकराल संहार शक्ति बलात मानव को किसी भी क्षेत्र में गतिमान नहीं कर सकती। भारत का ही मध्यकालिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि शासकों द्वारा घोर आक्रमण और अमानुषिक अत्याचारों के बावजूद भी यहाँ की जनता को किसी विशेष सम्प्रदाय में वे परिवर्तित न कर सके। सभ्यता का आवरण किसी सीमा तक प्रभावोत्पादक बन सकता है, पर उसका शाश्वत और स्थायी प्रभाव तो तभी पड़ता है जब उसकी आत्मा पूर्णतया संस्कृतिनिष्ठ हो। संस्कृति आत्मा है तो सभ्यता उसका शरीर। सभ्यता परिवर्तनशील है जब कि संस्कृति परिवर्तनशील दीखते हुए भी मौलिक दृष्टि से अपरिवर्तित ही है। बाह्य परिवर्तन सम्भव है, पर उसकी आत्मा तथ्य के सनातन सत्यों से ओतप्रोत है।

बंग कवि की वाणी में—"आज की सभ्यता के शरीर पर तो मखमल की बनी हुई चिकनी पोशाक है मगर उसके नीचे अस्त्र-शस्त्रों के क्षत चिह्न ढके हुए हैं।"[1]

आज का मानव भले ही अपने को सभ्य या अति सभ्य मान रहा हो, पर अपने जीवन में वह संस्कृतिमूलक सभ्यता को कहाँ तक स्थान देता है यह सचमुच विचारणीय है। 'सभायां साधुः सभ्यः', जो सभा में बैठने योग्य हो, सज्जन हो, वही सभ्य है। इस कसौटी पर शायद ही कोई राष्ट्र खरा उतरे, जो हिंसा-लिप्त है। सभ्यता का तात्पर्य केवल बाह्य दृष्टि से धवल वसन, साधारण मिष्ट सभाषण और वाक्पटुता ही नहीं है, अपितु प्रत्येक प्राणी के साथ सुकुमार व्यवहार और उसका यथेष्ट विकास ही है और वह अहिंसा द्वारा ही सम्भव है। एक तर्क यह भी दिया जाता है कि महात्मा बुद्ध और भगवान् महावीर जैसे महात्माओं ने अपनी कठोर जीवन की साधना के बाद जो उपदेश दिया उससे कौन-सी हिंसक वृत्ति जगत से समाप्त हो गई ? उनके समय में भी तो धर्म और संस्कृति के नाम पर भयंकर हिंसाएँ प्रचलित थी। पर यह कोई तर्क नहीं है, क्योंकि संसार में काँटे सर्वत्र बिखरे हुए हैं, जो इनसे बचना चाहे, पदत्राण की व्यवस्था कर ले। संसार सही विचारधाराओं का केन्द्र रहा है। संसार के कई मसले अहिंसा के द्वारा हल हुए हैं। नादिरशाह, चंगेजखाँ, हिटलर और कंस, दुर्योधन तथा रावण द्वारा अपनाये गये घोर हिंसात्मक मार्ग से कोई समस्या सुलझी हो ऐसा अनुभव नहीं है। हिटलर के अप्रत्याशित आक्रमण से भी कोई राष्ट्र स्वेच्छया अपनी भूमि देने को तैयार नहीं था, पर ४० करोड़ जनता के अहिंसात्मक आन्दोलन के समक्ष ब्रिटिश राजसत्ता को नतमस्तक होना पड़ा। अतः स्वाधीनता प्राप्ति और राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए अहिंसा कतई अव्यावहारिक नहीं है। सेना पर किया जानेवाला विपुल व्यय अहिंसा के प्रयोगों पर किया जाए तो निस्सन्देह व्यक्ति समाज और राष्ट्र के लिए श्रेयस्कर हो सकता है। विश्व बन्धुत्व की सृष्टि हो सकती है, मारने की अपेक्षा, वीरत्व के साथ मरना कहीं ज्यादा अच्छा है। हिंसा साम्राज्यवाद

1. सभ्यतार अंगे राखा मखमलेर चिक्कण पोशाक।
   नीचे तार वर्म्म ढाका, अस्त्र आर शस्त्र क्षत पाग ॥

को प्रोत्साहित करती है जब कि अहिंसा सत्तामूलक भावना के साथ समत्व स्थापित कर व्यक्ति और राष्ट्र में सामंजस्य संजोती है। पर हाँ, अहिंसा के सिद्धान्त केवल वाणी तक ही सीमित न हों, बल्कि जीवन इनसे ओत प्रोत हो। हिंसात्मक साधनों से भले ही क्षणिक शान्ति का अनुभव हो, पर अन्तत वह परिताप ही छोड जाते हैं, जैसाकि महाभारत के युद्ध से स्पष्ट है, पाण्डव अपना कौशल युद्ध क्षेत्र में दिखाकर विजेता बने, पर उनके मन में भयंकर परिताप था, शान्ति नहीं थी। हिंसा से आत्मग्लानि को ही जन्म मिलता है।

कहा जाता है कि अणुबम से हीरोशिमा नष्ट हो गया था, उसका शोधक डॉ० चार्ल्स निकोलस था और उसकी पत्नी का नाम मेरी था। अमेरिका का प्रमुख शान्तिवादी रॉबर्ट सिडनी निकोलस का परम मित्र था। मेरी का वात्सल्यमय हृदय सिडनी के संसर्ग से बदल गया और वह शान्तिवादिनी बन गई।

अणुबम का शोध-कार्य पूर्ण होते ही मेरी और सिडनी ने निश्चय किया था और अपने पति को भी समझाया था कि इसके उपयोग और निर्माण का रहस्य किसी भी राष्ट्र को न बताएँ। निकोलस ने इसे स्वीकार नहीं किया, फलत मेरी ने निकोलस का त्याग कर दिया। वह एकाकी अपने टॉम नामक एक वृद्ध नौकर के साथ रहने लगा।

अन्त में हीरोशिमा पर बम गिरा, लाखों व्यक्ति मृत्यु के मुख में प्रविष्ट हो गये। अवशिष्ट अपंग, अपाहिज और सदा के लिए बेकार हो गये। इसी समय एक व्यक्ति गरम राख पर पैर जलने के कारण दौडता चला आ रहा था, शरीर के कपडे अध जले थे। शरीर श्याम हो चुका था और ऐसा लग रहा था मानो वह इस राख के ढेर में कुछ खोज रहा हो। वह ऊँचे टीले पर चढकर बोला, 'He shall go to hell, who has destroyed this beloved town of Japan' (वह अवश्य नरक में जायगा, जिसने जापान के इस सुन्दर शहर का विनाश किया है।) पाँच बार इस प्रकार बोल कर एक स्तम्भ पर चढ गया, वहाँ भी उसने उपर्युक्त वाक्य लिख दिये। स्वयं सेवकों द्वारा उसी समय एक वाहन वहाँ लाया गया और वे उसे मोटर में बिठा ले गये। उधर अमेरिका में निकोलस की खोज के लिए मेरी और

सिडनी प्रयत्नशील थे। प्रयोगशाला में जाने पर नौकर से वृत्तान्त ज्ञात कर वे सीधे जापान पहुँचे, जहाँ शान्ति संघ के सदस्यों ने इनका स्वागत किया। वहाँ वे सहायता केन्द्र देखने के लिए ले जाये गये। वहाँ डाक्टर विलियम ने पूछा, "क्या आपमें से कोई यह बता सकता है कि इस विनाशकारी अणु बम की शोध किसने की है।" सिडनी के मुख से निकोलस का नाम निकला। विलियम ने उसके गायब होने की बात कही। इतने में स्वयं सेवकों ने मेरी और सिडनी को तथाकथित भारतीय के बुलाने की बात कही। वे उसके पास चले गये और उसे देखते ही सिडनी ने चौंक कर कहा "ओ मेरे निकोलस क्या तुम यहाँ हो! तुम्हारी यह हालत!" मेरी तथा डॉक्टर को वस्तु-स्थिति समझने में देर न लगी। सिडनी निकोलस को अपने कैम्प में ले गया। वहाँ सभी शान्तिवादी अमेरिकन उसके समक्ष बैठ गये, मेरी ने जब कहा चार्ल्स मुझे नहीं पहचाना! उसने लड़खड़ाती जिह्वा से कहा 'मेरी, तू सत्य प्रमाणित हुई। मैं अवश्य नरक में जाऊंगा' यह कहते हुए प्राण त्याग दिये। तात्पर्य जिसने विनाश के लिए अपने 40 वर्ष का श्रम किया वह स्वयं उसी का लक्ष्य बन गया।

छब्बीस

विश्व-शांति के अहिंसात्मक उपाय

संयुक्त राष्ट्र संघ

मानव सदैव शांति का पिपासु रहा है। जो भी समस्याएँ खड़ी होती हैं, उन्हें दूर कर, सामाजिक संगठन को बनाए रखने के लिए एवं राष्ट्र की सांस्कृतिक ज्योति प्रज्वलित रखने के लिए शांति एक अत्यन्त आवश्यक तत्त्व है। जब मानव लघुतम समूह बाँधकर जीवन यापन करते हुए एक-दूसरे पर आक्रमण करता था तब भी वह शांति को ही वांछनीय समझता था। बड़े-बड़े युद्धों को भी शांति के लिए ही होना कहा जाता है। वस्तुतः शांति आत्मिक तत्त्व है जिसका परिपाक समाज और राष्ट्र को प्रभावित करता है। अहिंसा शांति की जननी है। वह संघर्ष से दूर रहने की प्रेरणा देती है। लेकिन परिस्थिति और वृत्तियों का दास बनकर अहिंसा के स्थान पर मानव ने हिंसा को साधन बनाया और अशांति के बीज बोए।

इसमें कोई संदेह नहीं कि मानव पाशविक वृत्तियों से प्रभावित होकर ही नर संहारक युद्ध लीलाओं का ताण्डव रचता है। उसी के फलस्वरूप संपूर्ण युद्ध के उपकरणों का सूत्रपात हुआ। पर यह तथ्य है कि युद्ध मूलतः मानव वृत्ति में नहीं है। विश्व के महाकाश में भले ही युद्ध के बादल तिरोहित न हुए हों किन्तु सांस्कृतिक प्रगति को देखते हुए मानना पड़ता कि विश्व शांति की मानवेच्छा आज भी सुरक्षित है। ऐतिहासिक अनुभवों ने सिखाया है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय समूह के गठन का प्रयत्न करता रहा है। वियाना की कांग्रेस और यूरोप का कांसर्ट ऐसे ही संगठनों के प्रारम्भिक स्वरूप थे। प्रथम महायुद्ध में मानव ने अपनी स्वार्थ परायण वृत्ति द्वारा विश्व रंगमंच पर जो पाशविक नृत्य किया उससे मानवता लज्जित हुई। इसीलिए विश्व शांति अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए यूरोपीय राष्ट्रों ने एक सामूहिक प्रयास कर 1910 में

जेनेवा मे लीग आँफ नेशन्स 'राष्ट्र सघ' की स्थापना की। ताकि भविष्य मे पारस्परिक युद्ध न हो और मिल-जुलकर आपसी वैमनस्य का निर्णय वार्तालाप द्वारा हो। पर यह सस्था अधिक समय तक जीवित न रह सकी। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी जैसे कतिपय राष्ट्रो से अन्यायपूर्ण व्यवहार होने के कारण उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप कुछ ऐसे व्यक्तियो का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होने 'लीग आफ नेशन्स' की स्पष्ट अवहेलना प्रारम्भ कर दी। लीग यो भी कोई शक्तिशाली सस्था तो थी नही जो उपद्रवियो पर साधिकार नियंत्रण करती। इटली ने एबीसीनिया पर आक्रमण किया और लीग देखती रह गई। जर्मनी द्वारा छोटे-छोटे राष्ट्रो को हड़पते देखकर लीग की स्थापना के ठीक 20 वर्ष बाद 1939 मे द्वितीय महासमर प्रारम्भ हो गया। इसमे जर्मनी, जापान और इटली एक तरफ थे और रूस, अमेरिका इग्लैण्ड तथा फ्रास दूसरी ओर थे। युद्ध-ज्वाला ससार मे फैल गई। भीषण नर सहार हुआ। युद्ध की समाप्ति के कुछ समय पूर्व 57 विजेता राष्ट्रो ने भविष्य मे इस प्रकार की संहारात्मक कार्रवाही रोकने के लिए 26 जून, 1945 मे अमेरिका के सानफ्रासिसको सम्मेलन मे संयुक्त राष्ट्र सघ की नीव पड़ी। मानव दुखानुभूति से अभिभूत था। अत सावधान था कि 'लीग ऑफ नेशन्स' की त्रुटियाँ इसमे कही न रह जाएँ।

संयुक्त राष्ट्र सघ दो विभागो मे विभक्त है—

1. सुरक्षा परिषद्। 2 महासभा

चीन, रूस, इंग्लैण्ड, अमेरिका और फ्रास सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य बने। जिसका स्वरूप लोकतन्त्रात्मिक सरकार के समान बनाया गया। इसमे अन्य सभी देशो से 6 अस्थायी सदस्य प्रति दो वर्ष के बाद महासभा द्वारा चुने जाते है। इस प्रकार 11 सदस्यो की यह समिति है। वर्तमान मे सदस्यो की राज्यो सख्या 100 है। केवल लोक-गणराज्य चीन और उत्तरी कोरिया को अभी तक मान्यता प्राप्त नही है। इन पक्तियों को लिखते समय हेमरशोल्ड की मृत्यु के बाद संयुक्त-राष्ट्रसघ की समिति मे एक प्रस्ताव आया है कि चीन को भी इसका सदस्य बनाया जाय।

सुरक्षापरिषद् के 5 स्थायी सदस्यो को विशेषाधिकार प्राप्त है। जिसका अभिप्राय है कि प्रत्येक निर्णय पर पाँचों की सहमति आवश्यक है। किसी

एक द्वारा 'वीटो' (विशेषाधिकार) का प्रयोग करने पर महासभा का निर्णय भी कार्यान्वित नहीं किया जा सकता।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का मूल उद्देश्य विश्व शांति और विश्व सुरक्षा है। उसके समस्त प्रयत्न इसी की पूर्ति स्वरूप हैं। संघ चाहता है कि समस्त राष्ट्रों में मैत्री रहे और कोई भी राष्ट्र बल का दुरुपयोग कर निर्बल राष्ट्रों की स्वाधीनता में बाधक न बने। परिस्थितिवश यदि वैमनस्य हो भी जाय तो उसे युद्ध द्वारा न निपटाकर आपसी वार्तालाप या पंचायती समाधान द्वारा उसका हल किया जाय। इसका दूसरा उद्देश्य यह भी है कि विभिन्न राष्ट्रों में आर्थिक, सामाजिक या सांस्कृतिक समस्याएँ अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा हल हों। उन राष्ट्रों में पुनः शांति स्थापित करने के लिए वहाँ की सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति में योग देना, पिछड़े हुए देशों को विश्व बैंक द्वारा ऋण देना व कल्याणकारी योजनाओं की पूर्ति में सहयोग करना भी संघ ने अपने कर्तव्यों में सम्मिलित कर लिया है। एशिया के नवोदित राष्ट्रों को इन प्रयत्नों से पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई है। यूनिसेफ सेंटर खोले गये हैं जहाँ चिकित्सा के अतिरिक्त औषध, साबुन और दूध वितरण किया जाता है। नवीन औद्योगिक एवं व्यापारिक विकास के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था है। शैक्षणिक व सांस्कृतिक उत्थान विषयक कार्यों में भी इसका योग रहा है। दिल्ली का सार्वजनिक पुस्तकालय राष्ट्रसंघ की सहायता का ही परिणाम है।

इसका तीसरा उद्देश्य है जाति, धर्म, भाषा एवं लिंग के आधार पर किसी भी जाति के प्रति भेदभाव न रखा जाय। विश्व के समस्त मनुष्य मानव के मूलभूत अधिकारों का उपयोग करें। विचार स्वातन्त्र्य, वाणी स्वातन्त्र्य, स्वतन्त्र धर्म परिपालन एवं लेखन स्वातन्त्र्य पर सबका समान अधिकार हो।

उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि सुरक्षा परिषद् का मुख्य कार्य अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और विश्व-शान्ति है। यद्यपि इसे संगठन करने के लिए 'लीग ऑफ नेशन्स' के समान कोई स्थायी सैनिक नहीं है। तथापि राष्ट्रों ने आवश्यकता पड़ने पर संकट के समय तटस्थ सेना का संगठन इसने किया था। कोरिया, इण्डोनेशिया, इण्डोचीन, काश्मीर, स्वेज समस्या और कांगो

आदि की समस्याओं को सुलझाने में संयुक्त राष्ट्र संघ ने बहुत प्रयत्न किया है। निःशस्त्रीकरण योजनाओं को क्रियान्वित करना तो इसका प्रमुख अंग ही रहा है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के दो प्रमुख अंगों की पूर्ति के लिए आर्थिक तथा सामाजिक परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय; संयुक्त राष्ट्र संघ सचिवालय, सैनिक कर्मचारी समिति, संयुक्त राष्ट्र सहायता एवं पुनर्वास प्रशासन; संयुक्त खाद्य एवं कृषि संगठन; संयुक्त राष्ट्र औद्योगिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संगठन; अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन; स्वास्थ्य संगठन एवं निःशस्त्रीकरण आयोग आदि मंगलमय प्रयत्न हैं।

जहाँ अहिंसा के द्वारा विश्व-शांति सम्पादित करने का प्रश्न है। संयुक्त राष्ट्र संघ उसके एक अंग की पूर्ति करता है। क्योंकि संघ ऐसी शक्ति रखता है जहाँ से वैर-विरोध की भावनाओं को प्रोत्साहन न मिलकर शमन के मार्ग सुझाए जाते हैं। विभिन्न दृष्टिकोणों में सामंजस्य स्थापित करने के प्रयत्नों को यहाँ बल मिलता है। विश्व के राष्ट्रों का मतसंग्रह हो जाता है और यदि कोई बड़ा राष्ट्र किसी बात का विरोध करे तो उसे कार्यान्वित करने का अवसर नहीं मिलता। अंग्रेजों ने स्वेज नहर पर जब आक्रमण किया तो विश्वलोकमत विरुद्ध होने के कारण उस युद्ध की स्वतः समाप्ति हुई थी। हम यह नहीं कहने जा रहे हैं कि संयुक्त राष्ट्र संघ सभी स्थानों पर सफल ही रहा। क्योंकि सन् 1946 के बाद बहुत-सी ऐसी घटनाएँ विश्व के पटल पर अंकित हुईं जिनसे आशावादियों को विश्वास था कि संयुक्त राष्ट्र संघ इनमें कृतकार्य होगा पर 'लीग ऑफ नेशन्स' की भाँति वह विश्व-शांति स्थापित करने में असफल भी रहा। फिर भी यह स्पष्टतया स्वीकार करना ही पड़ेगा कि छोटी-मोटी बातों को लेकर उठने वाली ज्वालाओं को संयुक्त राष्ट्र संघ ने आगे बढ़ने से रोका या किसी सीमा तक सुलझाने का प्रयत्न किया। फिलिस्तीन, काश्मीर, कांगो और इण्डोनेशिया इसके प्रमाण हैं। लीग की तुलना में संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य अधिक हैं। कार्यविधि पुष्ट और प्रभावोत्पादक है।

विश्वशान्ति के बहुसंख्यक तथ्यों में एक यह भी सर्वावश्यक है कि विभिन्न राष्ट्रों में पारस्परिक सद्भावना और विश्वास की अभिवृद्धि हो और यही

अहिंसा का मौलिक तत्त्व है। आज की राजनीति पर दृष्टि केन्द्रित करने से विदित हुआ कि पारस्परिक अविश्वास के कारण ही विषाक्त वातावरण की सृष्टि हुई है। रूस और अमेरिका की प्रतिद्वंद्विता इसी का परिणाम है। आणविक आयुधों की प्रतिस्पर्धा अविश्वास की भावना की परिणति है। इन्हीं गुटों से विश्वशान्ति संकट काल से गुजर रही है। एक गुट जैसे अमेरिका साम्राज्यवाद का समर्थक है तो दूसरा गुट रूस आदि साम्यवाद का अनुयायी है। दोनों ही अपने विचारों के प्रसार और आयुधों के निर्माण में लीन हैं। राष्ट्र संघ की बैठकों में भी पारस्परिक दाव-पेंच इस प्रकार खेलते हैं कि रूस यदि किसी समस्या के समर्थन में मतदान करेगा तो अमेरिका ठीक इसके विपरीत अभिमत व्यक्त करेगा। इससे कभी-कभी संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थिति भी संदेहास्पद हो जाती है। रूस ने कई बार 'वीटो' का प्रयोग कर संघ की कार्यवाही स्थगित करा दी है। अमेरिका ने लाल चीन को अभी तक मान्यता नहीं दी है। दो गुटों के पारस्परिक अविश्वास के कारण स्थिति कभी-कभी बिगड़ जाती है। जर्मनी का भाग, बाल्टिक के राज्य, लाल चीन, दक्षिण पूर्वी एशिया के देश इण्डो चाइना, बर्मा, मलाया आदि प्रायः साम्यवाद के रंग में रंग हैं। शेष राष्ट्र अमेरिका के पक्ष में हैं। तभी तो कोरिया का प्रश्न न्यायपूर्ण आधार पर न सुलझ सका। दक्षिण अफ्रीका में काले और गोरों के बीच की खाई बढ़ती ही जा रही है। काश्मीर की समस्या भी ज्यों की त्यों खड़ी है। ये सब आपसी गुटों की अविश्वस्त वृत्ति के कारण ही राष्ट्र संघ को सफल नहीं होने देते। इसमें स्वार्थी राष्ट्रों की सैनिक गुट बन्दी भी बहुत बड़ा कारण है। विरोधी गुटों की प्रादेशिक सन्धियाँ भी संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्मान को धक्का पहुँचाती हैं। 'नाटो' और 'सीटो' के सन्धि मूलक सैनिक संगठन भी विश्वशान्ति में बाधक हैं। जब तक दल है तब तक युद्धावरोध असंभव है। अशान्ति ही सैनिक संगठन का स्थैर्य बनी है। 'नाटो' एक प्रकार की ऐसी सन्धि है, जिस पर हस्ताक्षर करनेवाले देशों ने यह निश्चय किया है कि उनमें यदि उनमें से किसी एक पर आक्रमण करेगा तो वह सब पर आक्रमण समझा जायगा और उस देश की सहायता की जायगी। इसी प्रकार अमेरिका ने भारत के पड़ोसी पाकिस्तान को सैनिक सहायता देकर युद्ध के संकट को भारत के द्वार तक पहुँचा दिया

है। इसी सैनिक सहायता के परिणामस्वरूप काश्मीर की समस्या काफी उलझ गई है जब कि भारत दोनों गुटों से अलग एवं तटस्थ व शान्तिवादी राष्ट्र है।

विश्व का राजनीतिक क्षितिज तनावपूर्ण है। दोनों गुटों के राष्ट्र शीघ्रता से शस्त्रास्त्र वृद्धि में सलग्न हैं। भारत के प्रधान मन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू और कई नेताओं ने मत प्रकट किया कि आयुध निर्माण सभ्यता के लिए घातक है। संयुक्त राष्ट्र संघ में भी उन्होंने कई बार इसपर प्रतिबन्ध लगाने की अपील की, पर वह निष्प्रभ ही रही। इग्लैण्ड तथा अमेरिका ने न केवल दृढ़ता के साथ घातक शस्त्र निर्माण का समर्थन ही किया अपितु विश्व-शान्ति का साधन भी माना। सम्भवतः यही शीतयुद्ध की भित्ति है। संयुक्त राष्ट्र संघ के आलोचक सुरक्षा परिषद् की स्थायी शक्तियों के 'वीटो' पावर का सख्त विरोध कर रहे हैं। किन्तु यदि यह पावर छिन गया तो वे शक्तियाँ मन चाहा करने लगेंगी। जब आज स्थिति यहाँ तक पहुँची है कि वीटो के न छीने जाने पर भी आणविक आयुधों का खुल्लम-खुल्ला परीक्षण हो रहा है जो विश्वशान्ति के प्रति अपने कर्तव्यों को विस्मृत किए हुए है। कहना पड़ता है कि संघ स्वयं अंशतः कूट नीति का साधन बन गया है।

विगत वर्षों में विश्वशान्ति की समस्या जितनी विकट हो गई है उतनी पूर्व काल में नहीं थी। सभी राष्ट्र सुरक्षा बजट बढ़ाकर सैनिक शक्ति बढ़ा रहे हैं, ऐसी स्थिति में तो संयुक्त राष्ट्र-संघ ही आशा का केन्द्र शेष रह जाता है। सभी राष्ट्रों का यह प्राथमिक कर्त्तव्य होना चाहिए कि यदि संस्कृति और मानव सभ्यता की रक्षा करनी है व सामाजिक जीवन में सुख-शान्ति का स्रोत प्रवाहमान रखना है तो राष्ट्र संघ की शान्ति मूलक योजनाओं को क्रियान्वित करने में पूर्ण बल प्रदान करना चाहिए। 1955 की घटनाओं के बाद तो यह विचार और भी अधिक दृढ़ हो जाता है।

भारत ने किसी भी दल में न रहकर के भी समस्त राष्ट्रों से मैत्री पूर्ण सम्बन्ध बनाये रखते हुए तटस्थ नीति स्वीकार की है। भारत की धूलि के कण-कण से शांति की ध्वनि गुंजरित होती है। इस शान्ति-कामी भारत की तटस्थ नीति से प्रथम तो बड़े राष्ट्रों में विवाद व्याप्त हो गया था। पर ज्यों-ज्यों नीति सक्रिय स्वरूप में सामने आती गई त्यों-त्यों न केवल इसका महत्त्व

ही राष्ट्रों की समझ में आया, प्रत्युत वे अनुभव करने लगे कि वस्तुतः यह भारतीय नीति यथार्थवादी व न्यायपूर्ण है। स्मरण रहे कि किसी समय राष्ट्र संघ में भारत नगण्य-सा प्रतीत होता था पर आज इसके प्रतिनिधियों का राष्ट्र संघ में अत्यधिक सम्मान है और सुरक्षा परिषद् का प्रतिनिधि पद भी प्राप्त है। 1949 में पेरिस में हुई राष्ट्र संघ महासभा में पं० नेहरू का यथोचित सम्मान, अभिभाषण द्वारा किया गया था। उनकी अमरीकी यात्रा द्वारा बहुत-सी शंकाएँ निर्मूल हो गई थीं। तत्पश्चात् श्रीमती विजया लक्ष्मी पंडित को राष्ट्र संघ की महासभा का अध्यक्ष पद भी प्राप्त हुआ था। इन सब की पृष्ठभूमि भारत की शान्तिवादी नीति थी। जब कोरिया में राष्ट्र संघ की सेनाओं ने 38 वीं समानान्तर रेखा के पार युद्ध जारी रखने का विचार किया तब भी नेहरू जी ने न केवल भारत की ओर से इसे रोकने का सफल प्रयास ही किया अपितु युद्ध बन्दी के पश्चात् युद्ध बन्दियों की वापसी के कार्य को भी भारत ने ही सम्हाला था। इंडोनेशिया इण्डोचीन का गृह-युद्ध विराम, भारत के ही प्रयास का परिणाम था। लाल चीन को मान्यता न देने का अधिक प्रचार अमरीका की ओर से किये जाने पर पं० नेहरू ने चीन के समर्थन में अपना दृढ़ मन्तव्य व्यक्त करते हुए अमेरिका की नीति का भी खण्डन किया था, क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि लाल चीन को राष्ट्र संघीय सदस्यता से वंचित रखा जाय और अब तो रूस और चीन अपनी उग्र नीति को परित्यक्त किये हुए हैं। यदि रूस व चीन दोनों देश अधिकाधिक सामीप्य स्थापित कर राष्ट्र संघ में सम्मिलित हो गये तो तनावपूर्ण स्थिति में किंचित स्थिरता आ सकती है। रूस को तो यह गौरव प्राप्त है ही, पर चीन की जनसंख्या को देखते हुए उसका राष्ट्र संघ में सम्मिलित किया जाना परम वांछनीय है। अन्य राष्ट्रों को भी यही कामना करनी चाहिए कि वे संयुक्त राष्ट्र के शान्तिमूलक प्रयत्नों में अधिकाधिक सक्रिय योग दें।

पच्चीस

संयुक्त राष्ट्रसंघ शान्तिकामी राष्ट्रों के प्रयत्नों का ही परिणाम है। पर अनुभव से ज्ञात होता है कि महान् उद्देश्यों की पूर्ति के लिए केवल संस्था का गठन ही पर्याप्त नहीं होता वह तो बाह्य रूप मात्र है। जबतक मानव की आंतरिक वृत्ति में शांति और सुरक्षा की भावना व प्राणीमात्र के प्रति ममत्व

मूलक दृष्टिकोण का विकास नहीं हो जाता तब तक नैतिक दृष्टि से भी विश्वशांति की समस्या को समुचित प्रोत्साहन नही मिलता। मनुष्य स्वेच्छया अपनी इच्छाओ को जब तक वश मे नहीं करता तब तक किसी भी प्रकार के संकट कालिक अवसरो का मुकावला नही किया जा सकता। भारतीय संस्कृति का तो यह अमर स्वर रहा है कि राष्ट्रीय चरित्र व नैतिकता का प्रेरणास्पद विकास तभी संभव है जब व्यक्ति का जीवन आदर्शमूलक, नैतिक परम्पराओ से ओत-प्रोत हो। जब तक व्यक्ति मे आत्मिक शांति का उद्भव न होगा तबतक समाज और राष्ट्र में शांति की स्रोतस्विनी वह नही सकती। व्यक्ति-समाज का विस्तृत रूप ही तो राष्ट्र है।

ससार मे वैयक्तिक स्वार्थमूलक परम्पराओ से प्रभावित व्यक्तियों द्वारा सामान्य जनपर अत्याचार बढ़ने लगे और मानवता पर वर्वरता का आवरण चढने लगा व शान्ति के स्थान पर अशान्ति की ज्वालाएँ प्रज्ज्वलित होने लगी, धर्म के नाम पर पाशविकता का पोषण प्रारम्भ हुआ। उस समय किसी न किसी विशिष्ट शक्ति ने जन्म लेकर उस तिमिर को मिटाकर प्राणवान् प्रकाश किरणों से ससार को प्रभावित कर प्रशस्त-पथ का निर्देशन किया है। प्रत्येक युग की अपनी समस्याएँ होती है, उन्ही के सहारे अवतरित शक्ति अहिंसा की पृष्ठभूमि मे सुख के साधन सजोती है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने तात्कालिक यौगलिक जनता मे अत्यधिक बढ़नेवाले पारस्परिक सघर्ष को अहिंसक नीति द्वारा धार्मिक शिक्षा का प्रसार कर दूर किया था। वे सफल भी रहे। वैदिककाल मे धर्म के नाम पर प्रचुर परिमाण मे पशुवलि का प्रचार था। वे अहिसा के नाम पर प्राणी उत्पीड़न को धर्म का अग माने हुए थे। स्वार्थी पुरोहित स्वएहिकवृत्ति पोषणार्थ मानव को धर्म के नाम पर विलक्षण मार्ग पर मोड़े हुए था। कपिल का तापत्रय निवृत्तिवाद शुकपाठवत् रटा जा रहा था। जीवन मे भयकर विषाद परिव्याप्त था। वर्ण-व्यवस्था के नाम पर वर्ग संघर्ष पनप रहा था। सुख-शान्ति का ठेका एक वर्ग विशेष के अधिकृत था। उस समय श्रमण भगवान् महावीर ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अहिंसा के प्रयोगो द्वारा शान्ति स्थापित करने का सफल प्रयास किया था। यद्यपि अद्यतनयुगीय मनीषी अहिसा का जहाँ प्रश्न उपस्थित होता है वहाँ महात्मा बुद्ध का नाम सर्वप्रथम उल्लेखित करते है।

किन्तु तात्कालिक सामाजिक परिस्थिति व सांस्कृतिक इतिहास को गभारता से देखा जाय तो स्पष्ट हुए बिना न रहेगा कि महात्मा बुद्ध की अपेक्षा अहिंसा क्षेत्र म भगवान् महावीर की अहिंसा मूलक उत्क्रांति कहीं अधिक सफल और व्यावहारिक रही। बुद्ध के माध्यमिक मार्ग म भी जनता को आश्वस्त तो किया गया पर विशुद्ध आध्यात्मिक क्षेत्र म बढनेवाले उदबुद्ध साधक को महावीर की अहिंसा न न केवल प्रभावित ही किया अपितु ऐसा मार्ग प्रस्तुत किया कि वह यदि उच्चकोटि के व्रतो द्वारा कठोर जीवन बिताने को सक्षम नही है तो सरल व सात्त्विक पथ पर चलकर भी आत्म-कल्याण के साथ लोक कल्याण भी सरलता म कर सकता है। इसकी पृष्ठभूमि अणुव्रत है, जिसम नतिकस्तर के साथ आध्यात्मिक उच्चत्व के भाव भी विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त महात्मा बुद्ध न करुणासिक्त हृदय से प्राणी रक्षा व वयक्तिक स्वातन्त्र्य मूलक निम्न पचशील प्रस्तुत किये—

1 प्राणियो को दुख मत दो।
2 जो दूसरे की नहीं द सकते वह उसस कभी न लो।
3 यौन विषयक सम्बन्धा म दृढता के साथ नतिकता का पालन करो।
4 असत्य सभाषण मत करो।
5 उन्माद या आवश उत्पन्न करनेवाले मद से सदव दूर रहो।

इन पचशीलो म विश्व शांति का अन्तर्भाव हो गया है। पर आज महात्मा बुद्ध के इन उपदेशो को धूमिल कर दिया गया है। बुद्ध के अनुयायी ही मार्गच्युत होकर विश्व-शांति की स्थिति को कही-कही सदिग्ध बना देते हैं। प० जवाहरलाल नहरू ने भी राजनीतिक दृष्टि स विश्व-शांति स्थापनार्थ पचशील का सिद्धान्त स्थापित किया है। एक प्रकार स प्राचीन परम्परा के आधार पर ही पडित जी ने कुछ परिवतन के साथ ससार के सम्मुख इनकी घोषणा की, जिसस नतिकता और सयम द्वारा प्रत्येक राष्ट्र अपना उत्थान करते हुए अन्य राष्ट्रो की सुख शांति और व्यवस्था बनाये रखे।

जून, 1954 म चीन क प्रधान मत्री श्री चाऊ-एन लाई का भारत म आगमन हुआ था, उस समय प० नहरू और इन दोनो के मध्य जो सुख-शांति मूलक वार्तालाप हुआ उसी क परिणामस्वरूप इन पचशीलो की उद्घोषणा हुई।

1. एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और सार्वभौमिकता का सम्मान।
2. पारस्परिक अनाक्रमण।
3. एक दूसरे राष्ट्र के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न करना।
4. एक दूसरे को समानता की मान्यता प्रदान करना तथा परस्पर लाभ पहुँचाना।
5. शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति को अपनाना।

इन सिद्धान्तो के समर्थन मे पौर्वात्य देशो के प्रधान मन्त्रियो मे पुष्टि की होड-सी लग गई। 25 सितम्बर को इण्डोनेशिया के प्रधान मंत्री ने और 19 अक्तूबर, 1954 को वियतनाम के मुख्यमत्री ने उन्हे स्वीकार किया। 29 दिसम्बर, 1954 को भारत, वर्मा, लका और इण्डोनेशिया के प्रधान मत्रियो का विचार-विमर्श हुआ और अन्त मे 24 अप्रैल, 1955 को वाण्डुग नामक स्थान मे एशिया के 29 राष्ट्रो का सम्मेलन हुआ जिसमे पचशील का स्पष्ट समर्थन किया गया और विश्वशान्ति के लिए उन्हे आवश्यक माना। मानव के मूलाधिकारो के प्रति निष्ठा प्रकट करते हुए कहा गया कि सामूहिक परिरक्षा के लिए कोई राष्ट्र दलवन्दी न करे। 19 फरवरी, 1955 को रूस की सर्वोच्च सोवियत ने न केवल पचशील के परिपालन पर जोर ही दिया अपितु तीसरे शील आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न करने के सिद्धान्त की व्याख्या और वढाते हुए कहा कि किसी भी देश के आन्तरिक मामलो मे आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक के अतिरिक्त वैचारिक प्रसारण मे भी किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न हो। पश्चिमी राष्ट्रों के लिए सोवियत रूस की यह घोषणा एक समस्या वन गई। पश्चिमी राष्ट्र रूस पर प्राय यही आरोप लगाते है कि उसने अन्य देशो के साम्यवादियों के साथ साँठ-गाँठ करके विद्रोहाग्नि भडकाकर विध्वंसात्मक कार्यो को प्रोत्साहित करने वाली साम्यवादी विचारधारा का प्रचार करने के लिए ही सूचित संशोधन किया है। पर इसमे शक नही यदि प्रामाणिकता के साथ रूस के सशोधन पर अमल किया जाता तो कम से कम शीतयुद्ध के आतकपूर्ण वातावरण मे अवश्य सुधार होता।

इसके पश्चात् 2 जून, 1955 को रूस और यूगोस्लाविया की सामूहिक घोषणा, 22 जून, 1955 को नेहरू, बुल्गानिन संयुक्त उद्घोषणा, 3 नवम्बर

1955 को संयुक्त राष्ट्र संघ के वक्तव्य और दिसम्बर, 1955 को रूस, भारत और अफगानिस्तान के राजनीतिज्ञों द्वारा दिये गये वक्तव्यों में पंचशील का उल्लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ढंग से किया गया है। इस प्रकार विश्व के तीस राष्ट्रों ने, जिनकी जनसंख्या अनुमानतः एक अरब पाँच करोड़ से अधिक है, पंचशील को मान्यता प्रदान की है। तभी से अंतर्राष्ट्रीय क्षितिज में पंचशील का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। अहिंसा के राजनीतिक स्वरूप का अन्तर्भाव पंचशील में हो जाता है। आइजनहावर ने कहा है—"पंचशील की नीति से पूर्व विश्व में उतनी सद्भावना नहीं फली थी जितनी आज फली है।"

पंचशील के सम्बन्ध में राजनीतिज्ञों में विभिन्न मत प्रसारित हैं। एक पक्ष इसे अव्यावहारिक बताता है, जिसकी पृष्ठभूमि है कि विज्ञान दिनानुदिन जब प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहा है तो कोई भी राष्ट्र तटस्थ कैसे रह सकता है। यदि वह इसका दावा करता है तो वह अन्य राष्ट्रों के प्रति विश्वासघातक अवसरवादी बनने का प्रयास करता है। पं० नेहरू पर भी यह आरोप लगाया जाता है कि वे साम्यवादी गुटों के साथ गठबन्धन कर अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए प्रयत्नशील हैं। दूसरी ओर साम्यवादी आलोचक अपना संदेह इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि पं० नेहरू पंचशील की पृष्ठभूमि पर साम्राज्यवादियों के पिछलग्गू बन रहे हैं। किन्तु विरोधियों की यह आवेशयुक्त वाणी यह भूल जाती है कि पंचशील पं० नेहरू की कोई वैयक्तिक नीति नहीं है। यह तो एशिया की पारम्परिक धर्म नीति का राजनीतिक संस्करण है, जो अद्यतन जलवायु से प्रस्फुटित किया गया है। सहअस्तित्व की सद्भावनापूर्ण नीति के बीज पंचशील में हैं। यह पूर्णतः अव्यावहारिक तथ्य है। भारत के प्राचीन गणतन्त्रों के इतिहास से इसकी राजनीतिक व्यवहार्यता 2500 वर्ष पूर्व ही स्पष्ट हो चुकी है। मौर्य सम्राट अशोक ने इसीसे मिलते सिद्धान्त का समर्थन शान्ति स्थापनार्थ किया था।

विश्वशान्ति के दस सूत्र

जैसा कि कहा जा चुका है अहिंसा की पृष्ठभूमि पर ही पंचशील का उद्भव हुआ है। महात्मा गांधी ने अहिंसा द्वारा ही राष्ट्र को उत्पीड़ित होने

सत्ताईस

विज्ञान पर अहिंसा का अंकुश

विश्व की कोई भी वस्तु चाहे कितनी भी सुन्दर उपादेय और आवश्यक हो पर उसमें संतुलित वृत्ति अपेक्षित है। विज्ञान निःसन्देह उपयोगी सिद्ध हुआ है, पर आज बढ़ी हुई भौतिक शक्तियों को देखते हुए प्रतीत होता है कि अब इस पर अंकुश की आवश्यकता है। अति भी भारी नहीं होती। विज्ञान स्वयं अपने आप में अंकुश जैसा प्रतिभासित होता है पर वह मस्तिष्क जगत् तक ही सीमित है। हृदय की अनुभूतियों को विज्ञान में अवकाश कहाँ? मानवता और यथार्थता में सामंजस्य कहाँ? विकास की चरम स्थिति पर पहुँचा हुआ विश्व आज अनुभव करता है कि जब तक आध्यात्मिक दृष्टि का जीवन में विकास न होगा तब तक केवल विज्ञान के बल पर ही मानवता की रक्षा नहीं की जा सकती। मनुष्य विज्ञान का दास बना हुआ है। आध्यात्मिक शक्ति के बीजस्वरूप अहिंसा से वह बहुत दूर चला गया है। तभी तो विज्ञान वरदान के स्थान पर अभिशाप प्रमाणित हो रहा है। वस्तुतः भौतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करना कोई बड़ी बात नहीं है, मानव की मानवता तो इसी में है कि वह अपनी इच्छा शक्तियों पर अधिकार प्राप्त करे। आवश्यकताओं को कम करने के लिए प्रयत्नशील रहे। जीवन को सुकुमार भावना से परिप्लावित करे।

आधुनिक विज्ञान के दर्प ने मनुष्य को मदोन्मत्त बना दिया है। वह दूसरों के प्राण लेने के लिए तनिक भी नहीं हिचकता।

एक बार कुछ मल्लाह अपनी नौका में यात्रियों को उस पार पहुँचाने के लिए जा रहे थे। मार्ग में एक संन्यासी खड़ाऊ पहन नदी के ऊपर तैर रहे थे। यात्रियों के आश्चर्यान्वित ढंग से पूछने पर संन्यासी जी ने कहा कि यह सिद्धि मैंने 18 वर्ष के परिश्रम से प्राप्त की है। इस पर यात्री-समूह खिलखिलाकर हँसते हुए कहने लगा कि जो कार्य दो पैसे में होता है

उसके लिए आपने 18 वर्ष बर्बाद कर कोई बुद्धिमानी तो नहीं की। आज के विज्ञान पर यह आख्यान चरितार्थ होता है। सम्पूर्ण जीवन की साधना के फलस्वरूप यदि विनाशशील सृष्टि के साधन प्राप्त हों तो उसे जीवन कहने की अपेक्षा मरण का पूर्ण रूप कहना अधिक उपर्युक्त होगा।

विजयदर्पोन्मत्त सिकन्दर अपनी विशाल सेनाओ के साथ ईरान की सड़कों पर जा रहा था, भयभीत नागरिक झुक-झुककर अभिवादन कर रहे थे। सिकन्दर के वदन पर गर्व-मिश्रित मुस्कान उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती जा रही थी। सामने एक निष्प्रिय संतो की ऐसी जमात दीख पड़ी जिसका ध्यान सिकन्दर और उसके वैभव पर बिलकुल नहीं था। वे अपनी मस्ती मे झूमते हुए चले जा रहे थे। सिकन्दर के मन मे बिना अभिवादन किये या अपनी ओर तनिक भी सत मण्डली की ओर से आकर्षण के भाव न दिखने के कारण आश्चर्य मिश्रित क्रोध आ गया। सतों से कहा क्या तुम्हे मालूम नही इस मार्ग से सिकन्दर महान् प्रयाण कर रहा है। मण्डली के एक वृद्ध तपस्वी ने हास्य मिश्रित स्वर मे कहा—"राजन् तू किस भ्रम में भ्रमित है, तू नहीं जानता कि तेरा यह विशाल वैभव तृणवत है। लोभ और तृष्णा के वशीभूत होकर बढ़ाया गया यह वैभव—जिसका कि तू दास बना हुआ है, हमारे चरणो मे लोटता है। अत तू तो दासो का दास है।" साधना जनित वाणी का सिकन्दर पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह तत्काल निष्प्रभ हो गया।

आज का मानव भी विज्ञान के वैभव पर साम्राज्य स्थापित करने की अपेक्षा उसका दास बना हुआ है। आत्मशक्ति से उन्मुख है। भौतिकशक्ति चाहे कितनी ही जावन के लिए उपादेय प्रतीत होती हो, वह पौद्गलिक होने से नश्वर है। वह शासन के योग्य है, पर मनुष्य इसके द्वारा शासित हो रहा है। अतएव विज्ञान पर नियन्त्रण नितान्त आवश्यक है। और वह अहिंसा द्वारा ही सम्भव है। नियन्त्रित विज्ञान मानव जाति को बर्बरता, अहं वृत्ति और लोलुप्ता से सुरक्षित रख सकेगा। विस्टन चर्चिल के शब्दो मे—"मानव जाति इस प्रकार की स्थिति मे कभी नही रही। अपगे सद्-भावी, मंगलकारी एव श्रेयस्कर गुणों मे अभिवृद्धि किये बिना ही उसके हाथो में इस प्रकार के शस्त्रास्त्र आ गए है, जिनसे वह निश्चित रूप से ही

स्वभाग्य को समाप्त कर सकती है। आखिर यह जगत सभी महापुरुषो और आविष्कारकों आदि के परिश्रम से इतनी उच्च स्थिति में पहुँचा है।" अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या हम निरकुश विज्ञान के हाथ मे समस्त जगत को सौंप दें? अगर विज्ञान के साथ अहिंसात्मक नैतिकता विकसित न हो सकी तो इसके परिणाम भयकर हो सकते हैं।

विश्व की कोई भी वस्तु मूलत कभी किसी को हानि, लाभ नही पहुँचाती। हानि-लाभ तो व्यक्ति के दृष्टिकोण की वस्तु है। विज्ञान भी स्वत मनुष्य को हानि नही पहुँचाता प्रत्युत इसके विपरीत निरन्तर शोधवृत्ति से विश्व के नूतन रहस्यो का उद्घाटन करता है। पर मूल प्रश्न है मानव द्वारा इसके समुचित प्रयोग का। उदाहरणार्थ एक चाकू से चिकित्सक शल्य [illegible] है तो उसी चाकू [illegible] के प्राण भी लिए जा सकते है। इसमे अच्छाई या बुराई शस्त्रगत न [illegible] हो जाती है। कला के क्षेत्र में कहा जाता है कि सौन्दर्य वस्तु [illegible] भी वस्तुत व्यक्ति परक है। व्यक्ति के दृष्टिकोण से [illegible] जागृत होता है। उसी प्रकार विज्ञान के क्षेत्र मे भी हम सकते हैं कि नि सन्देह विज्ञान की वास्तविक वैज्ञानिकता उस सिद्धान्त अपेक्षा उसके प्रयोक्ताओ पर अधिक निर्भर है। दैवी और आसुरी विज्ञान की देन भले ही लगती हो, पर हैं ये मानव की ही वृत्तियाँ।

[illegible] समाज रूपी रथ का समुचित सचालन करने के लिए ज्ञान और [illegible] की अपेक्षा है और साथ ही मानव-समाज का दृष्टिकोण आत्मज्ञान-[illegible] अर्थात् आध्यात्मिक भित्ति पर अवलम्बित होना चाहिए तभी विज्ञान [illegible] का रूप ले सकता है। अप्रमाद और विवेक वैज्ञानिक प्रयोक्ताओ [illegible] लिए अनिवार्य है। इनके बिना प्रगतिशील विज्ञान भी भौतिक जगत का [illegible] ही आलोकित कर पर वह प्रेरणाशील सृजनात्मक तत्त्व प्रदान नही कर [illegible]। आत्मज्ञान की शक्ति से पूरित मानव ही विज्ञान का सफल प्रयोक्ता [illegible]ता है। भगवान महावीर ने अपनी दीर्घकालिक साधना के बाद जो [illegible] किया उसके एक अंग में सूचित किया गया है कि कोई भी [illegible] हो तो उसका सार यही है कि वह अपने आत्मज्ञान के कारण विश्व विज्ञान का उपभोग करता हुआ किसी की हिंसा नही करता। किसी

स्वभाव को समाप्त कर सकती है। आखिर यह जगत सभी महापुरुषों और आविष्कारकों आदि के परिश्रम से इतनी उच्च स्थिति में पहुँचा है।" अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या हम निरंकुश विज्ञान के हाथ में समस्त जगत को सौंप दें? अगर विज्ञान के साथ अहिंसात्मक नैतिकता नियंत्रित न हो सकी तो इसके परिणाम भयंकर हो सकते हैं।

विश्व की कोई भी वस्तु मूलतः कभी किसी को हानि, लाभ नहीं पहुँचाती। हानि-लाभ तो व्यक्ति के दृष्टिकोण की वस्तु है। विज्ञान भी स्वतः मनुष्य को हानि नहीं पहुँचाता प्रत्युत इसके विपरीत निरंतर शोधवृत्ति से विश्व के नूतन रहस्यों का उद्घाटन करता है। पर मूल प्रश्न है मानव द्वारा इसके समुचित प्रयोग का। उदाहरणार्थ एक चाकू से चिकित्सक शल्य चिकित्सा द्वारा रुग्ण की रोग मुक्ति का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है तो उसी चाकू से किसी के प्राण भी लिए जा सकते हैं। इसमें अच्छाई या बुराई शस्त्रगत न होकर व्यक्तिगत हो जाती है। कला के क्षेत्र में कहा जाता है कि सौंदर्य वस्तुपरक प्रतिभासित होते हुए भी वस्तुतः व्यक्तिपरक है। व्यक्ति के दृष्टिकोण में ही आत्मस्थ सौंदर्य जागृत होता है। उसी प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में भी हम यह कहते हैं कि निःसंदेह विज्ञान की वास्तविक यथार्थता उस सिद्धांत की अपेक्षा उसके प्रयोक्ताओं पर अधिक निर्भर है। दैवी और आसुरी शक्तियाँ विज्ञान की देन भले ही लगती हों पर हैं ये मानव की ही वृत्तियाँ। मानव समाज रूपी रथ का समुचित संचालन करने के लिए ज्ञान और विज्ञान की अपेक्षा है और साथ ही मानव-समाज का दृष्टिकोण आत्मज्ञान परक प्रधान आध्यात्मिक भित्ति पर अवलम्बित होना चाहिए तभी विज्ञान वरदान का रूप ले सकता है। अप्रमाद और विवेक वैज्ञानिक प्रयोक्ताओं के लिए अनिवार्य है। इनके बिना प्रगतिशील विज्ञान भी भौतिक जगत को भले ही आलोकित कर पर वह प्रेरणाशील सृजनात्मक तत्त्व प्रदान नहीं कर सकता। आत्मज्ञान की शक्ति से पूरित मानव ही विज्ञान का सफल प्रयोक्ता हो सकता है। भगवान महावीर ने अपनी दीर्घकालिक साधना के बाद जो अनुभव रत्न प्राप्त किया उसके एक अंश में सूचित किया गया है कि कोई भी पुरुष ज्ञानी हो तो उसका सार यही है कि वह अपने आत्मज्ञान के कारण विज्ञान का उपयोग करता हुआ किसी की हिंसा नहीं करता। किसी

भी प्राणी को न सताना है, न मारता है और न दुःख ही देता है। यही अहिंसा का सिद्धान्त है। इसी मे विज्ञान का अन्तर्भाव हो जाता है।[1]

शक्ति और साधनों के आधार पर पुरातन कालिक वैज्ञानिक गवेषको ने सूचित किया है कि विज्ञान को जितना प्रोत्साहन दिया जाय, दिया जाना चाहिए। पर वह संहारशक्तिहीन हो। भगवान् महावीर ने जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति पर स्वैच्छिक नियन्त्रण लगाते हुए विवेक, यातना और सोपयोग निवृत्ति मूलक प्रवृत्ति का संकेत किया है। पाश्चात्य दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेल ने कहा है "मनुष्य को कानून और आजादी दोनों चाहिए, कानून उसकी आक्रमणकारिता एवं शोषक भावनाओं को दबने के लिए और स्वाधीनता रचनात्मक भावनाओं के विकास व कल्याण के लिए।"

प्रत्येक राष्ट्र यह चाहता है कि वहाँ के नागरिक सुशील, चरित्र-संपन्न और नीतिमत्तापूर्ण जीवन-यापन करने वाले हों। आक्रामक प्रवृत्तियों को रोकने या अंकुश लगाने के लिए राष्ट्र कानून बनाता है ताकि अनिष्ट प्रवृत्तियो को पनपने का अवकाश न मिले। साथ ही नागरिकों की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ अत्यधिक विकसित हों—यह भी शासक का कर्तव्य है। तभी विज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। रचनात्मक जीवन को प्रोत्साहन तभी मिल सकता है जब उसका पारिवारिक जीवन सुखी और समृद्धिशाली हो। यह राष्ट्र की शान्तिवादी नीति द्वारा ही संभव हो सकता है।

संसार मे विष और अमृत विद्यमान हैं। मनुष्य इतना अवश्य जानता है कि मेरे लिए ग्राह्य क्या है? वस्तुतः विष विष है तो भी दृष्टि-सम्पन्न मानव इससे अमृत का काम ले सकता है। संखिया तीव्र विष है पर यदि इसमे से प्राण हानि करने वाले तत्त्वो को निष्कासित कर उपयोग मे लाया जाय तो वह अमृत बनकर रोगोपशान्ति के साथ देह को सुन्दर और सुदृढ़ बना देगा। तात्पर्य, हेय मानी जाने वाली वस्तुओ मे से निःसार तत्त्व पृथककर दिए जाएँ तब वे भी अमृतोपम सिद्ध होती हैं। यह सब लिखने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि प्रत्येक वस्तु या सिद्धान्त के प्रति मानव का विशिष्ट

1. एवं खु नाणिणो सारं जन हिंसइ किंचण।
अहिंसा समयं चैव एयावन्तं वियाणिया॥
—सूत्र कृतांग 1। 1। 4। 10

दृष्टिकोण होना चाहिए। दृष्टि-सम्पन्न मानव के लिए विश्व की कोई वस्तु त्याज्य नहीं है। गुणग्राहकता व उसके उपयोग से परिचित होना आवश्यक है।

ससार म सत्य एक होकर भी वयक्तिक भेद के कारण अनेक है। इस अनेकता म मुख्य कारण दृष्टि भेद है। एक ही वस्तु विभिन्न दृष्टि-भेदो के कारण कई रूपो म परिवर्तित हो जाती है। उदाहरणार्थ एक अस्थिपजर को देखकर शरीर शास्त्रवेत्ता इस शोध की वस्तु समझकर अनुसधान मे जुट जाता है। इसी अस्थिपजर से दार्शनिक वैराग्यमय भावनाओ म तल्लीन हो जाता है। एक श्वान इसे देखकर भोज्य वस्तु समझ बैठता है। तात्पर्य यह कि एक वस्तु के दृष्टि भेद के कारण कई उपयोग होते देखे गये हैं। इसी प्रकार विभिन्न दृष्टियो से विज्ञान के भी कई उपयोग हैं। एकागी उपयोग से ही अशान्ति को जन्म मिलता है। यदि अहिंसामय जीवन-यापन करने वाला के हाथ मे वैज्ञानिक प्रयोग शक्ति का सूत्र हो तो निसन्देह यह निर्भ्रान्त विज्ञान पृथ्वी को स्वर्ग के रूप म परिवर्तित कर सकता है।

अट्ठाईस

आधुनिक विज्ञान का रचनात्मक उपयोग

जैसा कि पहले सूचित किया जा चुका है कि विज्ञान का भला-बुरा प्रयोग मानव के दृष्टिकोण पर अवलम्बित है। सुख-समृद्धि की अभिवृद्धि के लिए किए गए प्रयोग शान्ति स्थापित कर सकते हैं। पर यदि स्वार्थ प्रेरित भावना से इसका उपयोग किया गया तो यह विध्वंसात्मक और नर-संहारक भी प्रमाणित होता है।

रेडियम संसार की एक ऐसी बहुमूल्य धातु है जिसके छोटे से अणु अर्थात् एक माशा के हजारवे भाग मे ऐसी शक्ति है जो विशाल भवन को प्रकाश प्रदान कर सकती है। यदि भविष्य मे रेडियम बहुलता से उपलब्ध होगी तो शायद विद्युत् की आवश्यकता नही रह जायेगी। क्योकि रेडियम के अणु दीवाल पर प्लास्टर के साथ लगा दिये जायेगे तो उसका प्रकाश आवश्यक कार्यो को सुचारुतया सम्पन्न कर सकेगा। यन्त्रोद्योगो मे हजारों टन कोयलो का कार्य दो माशा रेडियम ही कर देगा। किन्तु विश्व में रेडियम की मात्रा दस-ग्यारह तोलो से अधिक नही है। इग्लैण्ड के विशाल चिकित्सालय मे केवल पन्द्रह माशा ही उपलब्ध है। भारत मे पटना के अतिरिक्त कहीं भी रेडियम द्वारा चिकित्सा की व्यवस्था नही है। इसका मूल्य बीस लाख यानि स्वर्ण से चौबस हजार गुना अधिक है। इस अल्पता के कारण कृत्रिम रेडियम निर्माण की सफल चेष्टा वैज्ञानिको ने की है। इसकी ऊष्मा से कई असाध्य रोग सुसाध्य की कोटि मे आते देखे गये है।

अणु की तापीय शक्ति का सृजनात्मक उपयोग सफलता के साथ करने के लिए यदि यत्न किया जाय तो ईधन की समस्या सुलझ सकती है। यातायात के साधनो को इस ऊष्मा से अधिक सक्षम बनाया जा सकता है। रोगो पर भी काबू पाया जा सकता है। वैज्ञानिको का तो दावा है कि वे इसके द्वारा मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेगे और यह सब तभी संभव

है जब सजनात्मक रूप मे इसका उपयोग हो।

नरसंहार के कारण अणु शक्ति को बहुत बडे अपयश का सामना करना पड़ा है। यद्यपि यह पर्याप्त व्यय साध्य है, पर मनिक व्यय म इसका विचार नही किया जाता। यदि इसका औद्योगिक क्षेत्रो म सफलता के साथ विकास किया जाय तो न केवल ईंधनो की ही बचत होगी, अपितु अन्य कार्य भी अल्प व्यय में ही सम्पन्न हो जायेंगे। प्रसन्नता का विषय है कि भारतीय शासन न वैज्ञानिकों को समुचित प्रोत्साहन देना प्रारम्भ कर दिया है और श्री भाभा के नेतृत्व म बम्बई के निकट आणविक भट्टी कुशलता से कार्य कर रही है। भारत मे कच्चे माल की कमी नही है। यूरेनियम भी समुपलब्ध है।

उनतीस

अहिंसक प्रयोग के हेतु धर्म और विज्ञान में सामंजस्य हो

यह सर्व स्वीकृत तथ्य है कि मनुष्य स्वभावतः प्रगतिशील प्राणी है। इसीलिए विज्ञान द्वारा प्राकृतिक शक्तियो की क्षमता की खोज कर सका। पर, परिताप इस बात का है कि वह भौतिक शक्तियों पर विजय प्राप्ति में इतना लीन हो गया है कि आत्मिक शक्तियों को भी विस्मृत कर बैठा। यहाँ तक कि वह अपने-आपको इतना अधिक शक्ति सम्पन्न समझने लगा कि परमात्मा, महात्मा, ईश्वर आदि अज्ञात शक्तियों को भी नगण्य मानने लगा। श्रद्धा का अश जीवन से विलुप्त हो गया। वह एक प्रकार से हक्सले के इस सिद्धान्त का अनुगामी बना कि ईश्वर आदि अज्ञात तथ्य मानवीय चिन्तन की अपूर्णता के द्योतक है। वह मानता है कि मनुष्य को समुचित या पौष्टिक खाद्य उचित मात्रा मे न मिलने के कारण उन लोगो मे विटामिन की कमी थी। मानसिक शक्ति दुर्बल हो गई थी। तभी वे ज्ञात वस्तुओं को छोड़ अज्ञात के चिन्तन मे लीन हो गये। फलस्वरूप दौर्बल्य के कारण वे परमात्मा या अज्ञात शक्ति के लिए प्रलाप करने लगे। नही कहा जा सकता कि हक्सले के इस तर्क मे कितना तथ्य है, पर यह तो बुद्धिगम्य है कि इस चिंतन की पृष्ठभूमि विशुद्ध भौतिक है। अहिंसा या अध्यात्म प्रधान दृष्टिकोण से चिन्तन किया जाय तो उपर्युक्त विचारो मे सशोधन को पर्याप्त अवकाश मिल सकता है। भारत तो सदा से श्रद्धा और ज्ञान मे विश्वास करता आया है। इन दोनो के अभाव मे जीवन तिमिराच्छन्न हो जाता है। विज्ञान के द्वारा बढी हुई स्वार्थपरायण वृत्ति की खाई को अहिसा द्वारा ही पाटा जा सकता है। तात्पर्य है कि धर्म और विज्ञान में सामंजस्य स्थापित हो। यद्यपि विशुद्ध तत्त्वज्ञान की दृष्टि से विचार किया जाय तो धर्म का, विज्ञान से

सम्बन्ध स्थापित करने में बाधाएँ आती हैं। कारण कि धर्म का सम्बन्ध अनात तत्त्व आत्मा से है और विज्ञान का सम्बन्ध पौद्गलिक या दृश्य जगत से। यह वैषम्य दो दिशाओं की ओर मनुष्य को उत्प्रेरित करता है। धर्म एकत्व का सूचक है तो विज्ञान द्वैध की ओर संकेत करता है। इतना होते हुए भी आधुनिक दृष्टि से जब अहिंसा के द्वारा विज्ञान पर नियंत्रण रखने के प्रयत्न हो रहे हैं तो धर्म के द्वारा भी इसे नियंत्रित किया जा सकता है। हाँ, विज्ञान से सामंजस्य स्थापित करने वाला धर्म केवल पारम्परिक या कालिक तथ्य न होकर विशाल दृष्टि सम्पन्न तथ्य है। धर्म का सीधा तात्पर्य केवल इतना ही है कि मानव जाति का अभ्युदय हो, सर्वोदय हो। विज्ञान इसका साधक हो।

धर्म और विज्ञान का समुचित सम्बन्ध हो जाने पर मानव को वास्तविक सुख-शांति की प्राप्ति होगी। धर्म या विशिष्ट दृष्टि रहित विज्ञान मानव समाज में वैषम्य उत्पन्न कर सकता है। विज्ञान बाह्य विषमताओं को मिटाने में सक्षम होगा तो धर्म आन्तरिक विकारों को दूर करने में सहायक होगा। विज्ञान नित नये साधनों का उत्पादक है तो धर्म उसका व्यवस्थापक। विपुल उत्पादन भी उचित वितरण के अभाव में एक समस्या बन जाता है। ऐसी अवस्था में जीवन का संतुलन दोनों के सामंजस्य पर ही अवलम्बित है। श्री ए० एन० व्हाईट हैड कहते हैं "धर्म के अतिरिक्त मानव जीवन बहुत ही अल्प प्रसन्नताओं का केन्द्र बिन्दु है।" अतः विज्ञान के साथ धर्म का सामंजस्य मानवता की रक्षा के लिए अनिवार्य है।

कतिपय विद्वानों का मंतव्य है कि धर्म और विज्ञान का सामंजस्य तो अमृत और विष के संयोग के समान है। धर्म हृदय की वस्तु है। विज्ञान मस्तिष्क की। धर्म श्रद्धा और विश्वास पर पनपता है तो विज्ञान प्रत्यक्ष प्रयोग पर। पर विचारणीय प्रश्न यह है कि प्राकृतिक शक्ति सम्पन्न विज्ञान अज्ञात तथ्यों को प्रत्यक्ष करा देता है तो धर्म जैसी सजीव वस्तु का यदि जड़ के साथ चाहे किसी भी रूप में सहयोगात्मक या नियंत्रणमूलक सम्पर्क हो जाने पर विज्ञान का महत्त्व बढ़ जायेगा और विकारवर्धक वैमनस्य मूलक भावनाएँ भी समाप्त हो जाएँगी। पर, शर्त यह है कि वह धर्म भी

शब्दाडम्बर रहित मानव की आन्तरिक भावभूमि मे स्पर्श रखता हो, जीवन के सौन्दर्य मे अभिवृद्धि कर अन्तर्मन को तृप्त करता हो।

आज राजनीतिक और धार्मिक सस्थाएँ धर्म के मर्म से बहुत दूर या उदासीन है। धर्म की स्वेच्छिक मर्यादाएँ बोझ-सी प्रतीत होती हैं। इसलिए कि मर्यादाओ के प्रति जो मानव का विशुद्ध दृष्टिकोण था वह शुष्क विज्ञान की प्रगति के कारण दिनानुदिन विलुप्त हुआ जा रहा है। एक समय था धर्म को श्रद्धा के द्वारा ग्रहण किया जाता था पर आज धर्म को विज्ञान या बुद्धि द्वारा ग्राह्य तत्त्व समझा जा रहा है। जहाँ तक चिन्तन का प्रश्न है वह ठीक है कि ससार की प्रत्येक ग्राह्य वस्तु बौद्धिक कसौटी पर कसने के बाद ही आत्मस्थ की जानी चाहिए। पर वह चिन्तन और बौद्धिक चातुर्य व्यर्थ है जिससे चिन्तित तथ्य को जीवन मे साकार नही किया जा सकता। आचार-मूलक श्रद्धान्वित ज्ञान ही वास्तविक चिन्तन का प्रतीक होता है। उत्कर्ष मूलक तथ्य केवल मानसिक जगत की वस्तु नही है, वह लोक कल्याण की वस्तु होती है। यदि मस्तिष्क द्वारा चिन्तित वैज्ञानिक तत्त्वो को अहिंसा-मूलक परम्परा द्वारा जीवन मे प्रस्थापित किया जाय तो नि स्सन्देह इन दोनो के सामंजस्य से न केवल मानवता ही परितुष्ट होगी, अपितु भविष्य मे और भी सुखद परिणाम आ सकते हैं। शक्ति बुरी चीज नही है, पर शक्ति का वास्तविक रहस्य उचित प्रयोगता पर निर्भर होता है। रावण और हनुमान शक्ति सम्पन्न व्यक्ति थे। रावण के पास धर्म रहित वैज्ञानिक शक्ति थी तो हनुमान के पास धर्म संयुक्त शक्ति। रावण की शक्ति स्वार्थ साधना मे प्रयुक्त हुई तो हनुमान की शक्ति सेवा और साधना का ऐसा प्रतीक बनी कि आज भी उन्हे अविस्मरणीय कोटि मे स्थान दिया गया है। धर्ममूलक वही शक्ति स्मरणीय होती है जो सुदृढ, स्वस्थ, प्रेरणाप्रद और ऊर्ज्वस्वल परम्परा का सूत्रपात कर सके।

आज की वैज्ञानिक प्रगति की दौड़ मे मानव ने क्या-क्या पाया और क्या-क्या खोया ? इसके विवेचन का यह स्थान न होते हुए भी इतना लिखने का लोभ सवरण नही किया जा सकता कि ज्ञान खोकर विज्ञान पाया। श्रद्धा खोकर अभिज्ञता पाई। आचार खोकर बौद्धिक क्षेत्र का

चिंतन विस्तृत किया। सक्रिय विचार खोकर तर्क पाया, स्वाभाविक स्वास्थ्य खोकर चिकित्सा पद्धति पाई। नैतिकता खोकर चातुर्य पाया। प्रेम खोकर स्वार्थ परायण वृत्ति पनपाई। तात्पर्य यह कि इस एकांगी भौतिक प्रगति से मनुष्य घाटे में ही रहा।

तीस

विज्ञान की संधि हिंसा के साथ

जीवन के किसी भी क्षेत्र में विकास करने के लिए गम्भीर चिन्तन या मार्ग मे आने वाली वाधाओ का सूक्ष्म परिज्ञान अनिवार्य है। दूरदर्शिता, पूर्ण प्रगति मानव को स्थायी जगत की ओर आकृष्ट करती है। आज का मानव विना किसी गम्भीर परिणाम पर गम्भीर विचार किये ही दो टूक निर्णय चाहता है। विश्व-शाति की निष्पत्ति के लिए भी यही मार्ग अपनाया प्रतीत होता है। तभी तो हिंसा के सहारे आज विज्ञान पनप रहा है। इस प्रकार की विश्व-शाति को यदि 'श्मशान की शांति' की सज्ञा दी जाय तो अत्युक्ति न होगी और इस हिंसा संयुक्त विज्ञान की संहार लीला देखकर सहसा भस्मासुर का आख्यान मानस पटल पर अंकित हो जाता है।

यह अनुभव मूलक सत्य है कि ससार मे पारस्परिक वैमनस्य वढाने वाले शत्रुओ में सवसे वड़ा और निकट का शत्रु सजातीय ही होता है। मानव समाज के लिए भयकर विनाश का यदि भय है तो और किन्ही प्राणियों से न होकर अपने सजातीय वन्धुओ से ही है। मानव की स्वार्थलिप्त हिंसा वृत्ति ने विगत युद्धो मे जिस सहार लीला का प्रदर्शन किया है उससे कैसे आशा की जाय कि वह विश्वशाति के जनक या मानव परित्राता का स्थान ग्रहण करेगी। इसमे भी, कहना चाहिए कि शस्त्रो की अपेक्षा मनुष्य की हिंसा वृत्ति ही प्रधान है। स्वार्थान्ध राष्ट्र प्राणियो की कोमलता का अनुभव नहीं कर सकते। मानवीय सौन्दर्य की व्यापकता पर उनका ध्यान नही जाता। वे तो केवल विश्व को अपनी प्रचण्ड संहार-शक्ति के द्वारा या पाशविक शक्ति द्वारा प्रभावित करना चाहते हैं कि यदि हमारा सर्वांगीण आधिपत्य स्वीकार नही किया तो उनका जीवित रहने का अधिकार हम छीन लेंगे।

एक वार कतिपय अंग्रेज चिड़ियाघर देखने गये, वहाँ सिंह और भेड़िए आदि गुर्राते, दहाड़ते नजर आये। उनकी इस प्रकृति पर अंग्रेजो

ने कहा—"ये कितने मग्न हैं, सदियाँ बीत गईं, फिर भी इनकी हैवानियत ज्यों की त्यों बनी हुई है। अपनी मूल वृत्तियाँ इस प्रगतिशील वैज्ञानिक युग में भी इन्होंने नहीं छोड़ी, इनका विकास मानव विकास की तुलना में नगण्य है।"

या वार्तालाप के बाद जब वे बाहर निकले तो जेल कटी हुई पाई, तब उनको भारी आश्चर्य हुआ कि हम तो हिंसक पशुओं को ही अविकसित प्राणी समझ रहे थे पर मनुष्य ने भी अभी तक अपनी तस्करमूलक हिंसावृत्ति का पूर्णतया परित्याग नहीं किया है। वस्तुतः भौतिक विकास में मनुष्य की नैतिक प्रगति बहुत मन्द पड़ गई है। इसका कारण ही हिंसा मूलक विज्ञान का विकास है भले ही मानव की पाशविक वृत्तिपर मानवता की पतली चादर पड़ी हुई दृष्टिगोचर होती हो, पर वह क्षणिक आवेश में ही फट जाती है।

पशुओं के मारने करने में वैज्ञानिक यन्त्रों ने पर्याप्त विकास किया है। यह कहा जाता है कि इस प्रकार के तीक्ष्ण यन्त्र होने चाहिए जिनसे प्राणहानि के समय पशुगण अधिक कष्ट का अनुभव न करें। उनका तड़पना या करुणार्द्र स्वर ध्वनि निकालने का अवकाश ही न मिले। इसमें शक नहीं कि महात्मा गाधी की राजनीति में पनपने वाला आज का भारत पूर्वापेक्षया अधिक मांसाहार की ओर झुका हुआ है। अहिंसा और मानवता पर विस्तृत भाषण करने वाले भी इस आहार से बहुत ही कम अलिप्त रह पाते हैं। तात्पर्य बौद्धिक जगत में तो अहिंसा सर्वांगीण रूपेण विकसित हुई है, पर दुर्भाग्य से जीवन के क्षेत्र में यह प्रगति नहीं कर पाई।

बत्तीस

अहिंसा का स्वरूप

अहिंसा का उदय

अहिंसा शब्द का प्रयोग कब से और क्यो होने लगा, तथा जन-जीवन मे अहिंसा की प्रबल वेगवती भावना का उदय कब से हुआ, यह बतलाना तो असभव है। हाँ, साहित्य तथा कल्पना लोक से भले ही इसका कुछ अनुमान लगाया जा सकता है, किन्तु इसकी सुनिश्चित रूप-रेखा खीचना टेढ़ी खीर है। इतना तो हम अवश्य कहेगे कि यह अहिंसा अनादि और अनन्त है। किसी भी काल विशेष मे इसके अभाव की कल्पना नही की जा सकती।

विश्व के सभी दर्शनों ने अहिंसा को प्रधानता प्रदान की है परन्तु जैन दर्शन के लिए तो अहिंसा प्राणभूत तत्त्व है। अथवा यों कहना चाहिए कि इसकी विशद व्याप्ति मे ही सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि सभी व्रतों का समावेश हो जाता है। धर्म का मौलिक स्वरूप अहिंसा है और सत्य आदि उसका विस्तार है। इसीलिए जैन दर्शन के एक महान् आचार्य ने एक स्थान पर कहा है **"अवसेसा तस्स रखट्ठा"** शेष सभी व्रत अहिसा की सुरक्षा के लिए हैं। जैसे अर्थ की रक्षा के लिए तिजोरी की आवश्यकता रहती है। उसके विना अर्थ सुरक्षित नही रह सकता। उसी प्रकार अहिंसारूपी धन की रक्षा के लिए इतर व्रत तिजोरी के सदृश है। साराश यह है कि अहिंसा व्रत के अतिरिक्त जो व्रत हैं वे सारे अहिंसा तत्त्व के ही पोषक है। वे उनसे कभी भी अपना अस्तित्व अलग-थलग नही कायम कर सकते। वल्कि अहिंसा भगवती के ही संरक्षण होकर रहते है।

अहिंसा की परिभाषा

अहिंसा का विशद स्वरूप समझने के पूर्व अहिसा क्या है, और उसकी परिभाषा क्या हो सकती है? इसको जानना आवश्यक है। यो तो हमारे यहाँ सभी धर्मो ने अहिंसा की विभिन्न व्याख्याये की है, जिनमें एक ही स्वर-

लहरी गूंज रही है। आर्यावर्त्त के महामानव भगवान् महावीर ने अहिंसा की परिभाषा इस प्रकार की है 'प्राणी मात्र के प्रति संयम रखना ही अहिंसा है।'[1] इसी प्रकार अहिंसा की और भी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा है, 'मन, वचन और काया इनम से किसी एक के द्वारा किसी प्रकार के जीवो की हिंसा न हो, ऐसा व्यवहार करना ही सयमी जीवन है। ऐसे जीवन का निरंतर धारण ही अहिंसा है।'[2]

गौतम बुद्ध ने अहिंसा की व्याख्या करते हुए इस प्रकार बतलाया है—

'त्रस या स्थावर जीवो को न मारे, न मरावे और न मारनेवाले का अनुमोदन करे।'[3]

गीता म श्रीकृष्ण की वाणी इस प्रकार प्रवाहित हुई है—'ज्ञानी पुरुष ईश्वर को सवत्र समान रूप से व्यापक हुआ देखकर हिंसा की प्रवृत्ति नही करता, क्योंकि वह जानता है कि हिंसा करना खुद अपनी ही घात करने के बराबर है और इस प्रकार हृदय के शुद्ध और पूर्ण रूप से विकसित होने पर वह उत्तम गति को प्राप्त करता है।'[4]

पातञ्जल योग के भाष्यकार ने बताया है कि सब प्रकार से सब काल मे सब प्राणियों के साथ अभिद्रोह न करना, अहिंसा है।[5]

गांधीजी ने अहिंसा की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"अहिंसा के माने सूक्ष्म जन्तुओ से लेकर मनुष्य तक सभी जीवो के प्रति

---

1 अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्व भुएसु संजमो।

—दशवैकालिक 6। 9।

2 तसिं अच्छणजोएण निच्चं होयव्वय सिया।
मणसा काय वक्केण एव हवइ संजए॥

—दशवैकालिक 8। 3।

3 पाणे न हाने न घात येय, न घानुमन्या हनन परेस।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्ड, ये थावरा ये च तसन्ति लोके॥

—सुत्त निपात धम्मिक सुत।

4 समं पश्यन् हि सवत्र, समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मान, ततो याति परां गतिम्॥

5 तत्र अहिंसा सवदा सर्व भूतेष्वनभिद्रोह।

—पातञ्जल योग सूत्र।

समभाव।'[1]

अहिंसा का उक्त सभी व्याख्याओ मे दया और करुणा का सागर उमड़ रहा है। प्राय. सभी व्याख्याकारो ने यही बतलाया है कि मन से, वचन से और कर्म से प्राणी को कष्ट न पहुँचाना ही अहिंसा है। सूक्ष्म से लेकर स्थूल तक सभी जीवो के प्रति मैत्रीभाव रखना अहिंसा है।

अहिंसा हमे सदा से 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का पाठ सिखलाती रही है। दूसरो द्वारा किये जाने वाले जिस व्यवहार को तुम अपने लिए उचित नही समझते वह व्यवहार दूसरो के प्रति करना भी अनुचित है। अपने प्रति किये गये जिस कार्य से तुम्हे पीड़ा पहुँचती है, समझ लो तुम्हारा वैसा कार्य भी दूसरो को पीडा पहुँचाता है। इस प्रकार शान्त मस्तिष्क से न्यायपूर्ण चिंतन करने पर स्वत· हिंसा-अहिंसा का स्वरूप समझ मे आ जाता है।

हिंसा-अहिंसा का मानदण्ड

अधिक शास्त्रीय भाषा मे हिंसा-अहिंसा का स्वरूप दर्शाने के लिए प्रतिभासम्पन्न आचार्य अमृतचन्द ने कहा है कि कलुषित भावो का प्रादुर्भाव न होना अहिंसा है और कलुषित भावो का उद्गम हिंसा है। अहिंसा का विपरीत पक्ष ही हिंसा है। अहिंसा शब्द से ही हिंसा का अपने-आप निरोध हो जाता। आचार्य हरिभद्र के विचारो मे तो आत्मा ही अहिंसा है और आत्मा ही हिंसा है। अप्रमत्त आत्मा अहिंसक है और प्रमादयुक्त जो आत्मा है वह हिंसक है।[2]

प्रमाद मे हिंसा का अधकार है किन्तु अप्रमाद मे अहिंसा का जगमगाता प्रकाश है। यही बात आचार्य उमास्वाति के तत्वार्थ सूत्र मे गूँज रही है— 'प्रमत्त योग से होने वाला प्राण वध हिंसा है।'[3]

यदि कोई सयमी साधक यतना के साथ सावधानी रखता हुआ

1. गाधी वाणी पृष्ठ 37
2. आया चेव अहिंसा, आया हिंसेनि निच्छओ एस।
   जो होइ अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इयरो॥
   —हरिभद्रकृत अष्टक 7 श्लोक छठवी वृत्ति।
3. प्रमत्त योगात् प्राण व्यपरो पणं हिंसा
   —तत्वार्थ सूत्र, अ० 7।8

सतर्कता से चल रहा है। किसी जीव के प्राणों की घात न होने देने की बुद्धि उसमें विद्यमान है। ऐसी स्थिति में अचानक कोई जीव उसके पैरों के नीचे आकर कुचल जाता है तो वह साधक हिंसा के पाप में लिप्त नहीं होता।

अभिप्राय यह है कि कषाय और प्रमाद से किया जाने वाला प्राणवध हिंसा है। हिंसा की व्याख्या के दो अंश हैं। एक अंश है—प्रमत्त योग अर्थात् रागद्वेष युक्त और दूसरा अंश है—प्राण वध। पहला अंश कारण रूप में है, और दूसरा कार्य रूप में है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो प्राण वध प्रमत्त योग से हो वह हिंसा है। एतदर्थ साधक प्रमाद और कषाय से जितने जितने अंशों में बचने का प्रयास करेगा उतने उतने अंशों में वह हिंसा से बचेगा। कषाय और प्रमाद आत्मा की अशुद्ध परिणति है, और आत्मा की जो अशुद्ध परिणति है वही हिंसा है। अतः अहिंसा प्रेमी व्यक्ति इनसे अपने को सदा बचाये रखे, जिससे कि वह हिंसा के गह्वर से ऊपर उठकर अहिंसा के दिव्य आलोक में अपनी आत्मा का सही मूल्यांकन आंक सके।

जैन समाज की दिव्य विभूति स्वामी समंतभद्र ने एक स्थान पर अहिंसा का महात्म्य बतलाते हुए कहा कि—

"अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्।"[1]

धर्म ने मानव जाति को अनेकानेक महान् विभूतियाँ प्रदान की हैं, पर उन सब में अहिंसा ही उत्कृष्ट है। मानव जीवन में देवत्व और मानवत्व की प्रतिष्ठा करने वाली एकमात्र अहिंसा ही है। यदि मानव में अहिंसात्मक सुमधुर कोमल कमनीय विचारों के रश्मिमाली का उदय न हुआ तो मानव किस नगण्यतम स्थिति की अंधेरी गुहा में चला जायगा जिसकी कल्पना सहज नहीं की जा सकती है। मानव ने परिवार, समाज और राष्ट्र का निर्माण किया तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित किये, इन सबका मूलाधार अहिंसा ही है। व्यक्ति और समाज की जीवन यात्रा का पाथेय भी अहिंसा ही है। अहिंसा के प्राण ही उसमें स्पंदित दिखलाई पड़ते हैं। प्राण के अभाव में व्यक्ति के शरीर की कोई कीमत नहीं होती, उसी प्रकार अहिंसा के अभाव में देश, समाज और राष्ट्र का भी कोई मूल्य नहीं है।

1 बृहद् स्वयम्भू स्तोत्र।

अहिंसा मानवता की आधारशिला है और मानवता का उज्ज्वल प्रतीक है। परिवार, समाज, देश और राष्ट्र में यदि शांति के सदर्शन हो सकते हैं तो वह एकमात्र अहिंसा से ही। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि अहिंसा विश्व की आत्मा है, प्राण है, और है चेतना का एक स्पन्दन।

अहिंसा की शक्ति बढ़ानी है

मुख्यतः आज दो धाराओं के बीच संघर्ष चल रहा है। एक पश्चिम से सम्बद्ध है जिसका मुख्य आधार भौतिकवादी परम्परा होने के कारण खान-पान और आमोद प्रमोद में जीवन समाप्त करना है। इस विचार परम्परा की जड़ों का सिंचन वैज्ञानिक प्रसाधनों द्वारा तीव्र गति से हो रहा है। दूसरी विचारधारा भारत से सम्बद्ध है जो प्रत्येक प्रवृत्ति में संयम और त्याग में विश्वास करती हुई सांसारिक वासना-वर्धक साधनों पर अंकुश लगाकर जीवन का वास्तविक आनन्द वैराग्यमूलक त्याग में मानती है। वस्तुतः यथार्थ आनन्द का उपभोग वही व्यक्ति कर सकता है जिसके जीवन में संयम परिव्याप्त हो और वह आवश्यकताओं का दास न हो। जीवन का आनन्द आवश्यकताओं की समृद्धि और अभिवृद्धि में नहीं है। प्रत्युत प्रत्येक वस्तु में मर्यादित भावना रखते हुए जीवन यापन करना ही ऐसा जीवन है जिसकी परम्परा मानव का उज्ज्वल भविष्य निर्माण कर सकती है। प्रकृति प्रदत्त व विज्ञान द्वारा आविष्कृत वस्तु बाहुल्य का यह तात्पर्य नहीं कि मानव इनका दास बन कर रहे। भारत के तत्त्वचिन्तकों ने स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि सच्चा सुख आत्म-शान्ति में है और आत्म-शान्ति पौद्गलिक सुखों के परित्याग पर निर्भर है। वे यह भी आवश्यक मानते हैं कि अत्यधिक सुखोपलब्धि के साधन संचय में परिग्रह वृत्ति का अनिवार्यतः पोषण होता है, जो एक प्रकार की हिंसा है। संघर्ष, विषमता, क्षोभ, अनैतिकता, शोषण और साम्राज्यवाद ये सब संचय वृत्ति के ऐसे परिणाम हैं जिन पर मानवता गर्व नहीं कर सकती। भविष्य को प्रेरणा नहीं दिला सकती।

अब भविष्य के लिए यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि हिंसा आदि मानव-समाज के विकास के लिए घातक हैं और जो भी इस प्रकार के वैज्ञानिक शस्त्र निर्मित हो रहे हैं उनकी गति को मन्द करना अत्यावश्यक

है। क्योंकि यह स्पष्ट है कि किसी भी तथ्य को मौलिक रूप से यदि परिवर्तित करने का प्रयास नही किया गया तो वह आगे चलकर इतना विस्तृत हो जायेगा कि जिस पर अंकुश भी नही लग सकेगा। ईंट का जवाब पत्थर से देना हिंसा को प्रोत्साहित करना है, प्रतिहिंसा की भावना को बढ़ावा देना है। यदि हिंसा को न रोका गया तो उसकी परम्परा द्रौपदी का चीर बन कर रहेगी।

अब हमे देखना यह है कि इन दो पारस्परिक विचारधाओ मे से किसे अपनाने मे मानव और मानवता के साथ प्राणी मात्र का हित निहित है। साथ ही जीवन के क्षेत्र मे कौन-सी सर्वगम्य विचारधारा अधिक प्रभाव उत्पन्न कर स्थायित्त्व परम्परा का रूप ग्रहण कर सकती है। जहाँ तक पूर्व और पश्चिम के दार्शनिको का प्रश्न है, प्रारम्भ से ही दोनो मे पर्याप्त वैभिन्न्य रहा है। पाश्चात्य दर्शन मानसिक श्रम तक ही सीमित है। सभव है उनके चिन्तन का क्षेत्र व तात्कालिक मानवीय समस्याएँ तद्नुकूल ही रही हो। इसके विपरीत भारतीय तत्त्वज्ञान का स्वर मस्तिष्क से सम्बद्ध रहते हुए भी हृदय के मर्म स्थान को स्पर्श किये हुए है। मस्तिष्क द्वारा विश्व रहस्य के अन्तस्तल तक पहुँचने का प्रयास करते हुए भी उसकी सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ अहिंसा व अध्यात्ममूलक रही है। यहाँ दर्शन भी मानसिक विकास तक सीमित न रहकर आत्मिक विकास का सफल सोपान माना गया है। पौद्गलिक शक्तियो द्वारा हिंसा प्रोत्साहित होती है तो आध्यात्मिक शक्ति की किरणो से अहिंसा को बल मिलता है। भारतीय दर्शन का मुख्य आधार ही अहिंसा, अर्थात् समत्त्व है। प्रकर्ष ज्ञान को ही विज्ञान मान लिया जाय तो विज्ञान भी अहिंसा की श्रेणी मे आ ही जायेगा। पर वर्तमान परिभाषा कुछ और ही मार्ग पर इसे प्रेरित करती है। प्रथम विचारधारा भौतिकवादी होने के कारण उन्ही लोगो के लिए श्रेयस्कर है जिनके पास आर्थिक शक्ति प्रबल है, वे ही अधिक से अधिक प्रसाधन बसा कर वैयक्तिक सुखोपलब्धि का अनुभव कर सकते है। अहिंसामूलक आध्यात्मिक भारतीय विचार परम्परा और सुखोपलब्धि के उपकरण को आनन्द का कारण न मानकर त्याग और सयम की प्रतिष्ठा मे सुख मानता है और वह अपनी सुखोपलब्धि मे आने वाली बाधाओ पर भी समत्त्व ही धारण

किये रहता है। वह अपने सुख के लिए दूसरों के सुखों का हनन नहीं करता वह स्वेच्छया ही सीमित साधनों में व्यापक जीवन यापन का अभ्यस्त है। अतः यह स्पष्ट है कि यदि संसार को वैयक्तिक सुख-शांति का समष्टि का रूप देना है तो जगत और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अहिंसा की सर्वांगीण प्रतिष्ठा अत्यन्त अनिवार्य है। जगत में संहारक शक्ति अर्थात् हिंसा का क्षणिक प्राबल्य भले ही अपना प्रभाव बताता हो पर उससे संसार के संताप में ही अभिवृद्धि होगी। आणविक शक्तियाँ भले ही आतंक जमा सकें, पर वह तो प्रतिहिंसा को ही बल देने वाला सिद्ध होगा। इसका प्रत्युत्तर आध्यात्मिक या अहिंसा शक्ति ही दे सकती है। पाश्चात्य परम्परा की संहारक नीति का समर्थन करने वाले भी आज सुरक्षार्थ अहिंसा का यशोगान ही नहीं करते अपितु हिंसक शक्तियों के विरुद्ध बड़े-बड़े आन्दोलन और प्रदर्शन भी उन द्वारा किए जाते हैं। अतः सांसारिक सुख समृद्धि की अभिवृद्धि के लिए भी अहिंसा का प्रचार आवश्यक है। अहिंसा-शक्ति को बढ़ाना इसलिए भी आवश्यक है कि न केवल इससे शान्ति साम्य ही स्थापित होगा अपितु इसकी परम्परा अपनी निरन्तरता के कारण शताब्दियों तक मानवता को अनुप्राणित करती रहेगी।

अहिंसा की शक्ति बढ़ाने के लिए दो मार्ग हो सकते हैं एक तो हिंसा के प्रतिरोधार्थ सभी प्रकार के पुरुषार्थों को प्रोत्साहित करना और दूसरा अहिंसा के नित नये विज्ञानसम्मत प्रयोग करते रहना। यदि सभी राष्ट्र शान्ति स्थापनार्थ आक्रामक व विस्तारवादी नीति का अर्थात् हिंसा का परित्याग कर सामूहिक रूप से अहिंसा के विभिन्न प्रयोगों द्वारा शान्ति स्थापनार्थ प्रयत्नशील हों तो निस्सन्देह हिंसात्मक स्थिति शिथिल होगी तथा दूसरी ओर अहिंसा को भी विधायक बल प्राप्त हो जायेगा। अहिंसा आत्मबल की अभिवृद्धि करती है जो किसी भी राष्ट्र की स्थायी व मौलिक शक्ति है। हिंसा चाहे कितनी ही शक्ति रखती हो पर वह पाशविक ही है, जिसका प्रयोग निर्माण के लिए सम्भव हो नहीं है। कतिपय राजनयिकों का मन्तव्य है कि शासन जैसे कठोर मार्ग में यदि अहिंसात्मक नीति को प्रोत्साहित किया गया और जनता के साथ नम्रता पूर्ण आरम्भ किया गया तो राजकीय दृष्टि से नियंत्रण कठिन हो जायेगा। बिना दण्ड-व्यवस्था के शासन

कैसे रुकेंगे। आज के प्रगतिशील युग मे इसका विस्तृत उत्तर देने की अपेक्षा इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि महात्म गाधी ने अहिंसा के प्रयोगो द्वारा 40 करोड़ जनता को वर्षों की पराधीनता के बाद स्वाधीनना का अनुगामी बनाया, जबकि इनके समक्ष भी शासन द्वारा हिंसात्मक प्रयोग कम नही किये गए। तथापि अहिंसा द्वारा प्राप्त आत्मबल का राजनैतिक प्रयोग कितना सफल रहा यह कहने की बात नही है, जनता-जनार्दन ने स्वय अनुभव किया है। गाधी युग की स्वाधीनता की देन तो चिरस्मरणीय घटना है ही पर इससे भी अधिक गाधी के दर्शन से स्वभावत. जो अहिंसात्मक वायु-मण्डल की विश्वव्यापी सृष्टि हुई है वह अधिक मूल्यवान है। उनकी राजनीतिक अहिंसा ने कम से कम ऐसी स्थिति तो उत्पन्न कर ही दी है कि आज हमे अहिंसा और उसकी समर्थ शक्ति के लिए विश्व को अधिक समझाने की आवश्यकता नही है। जहाँ कार्य शक्ति प्रत्यक्ष रूप से साकार खड़ी है, वहाँ वाणी को विकसित करने की विशेष आवश्यकता नही रह जाती। हिंसा की रोकथाम के लिए और साथ ही अहिंसा की शक्ति को बढाने के लिए प्रथम उपाय है—धार्मिक और आध्यात्मिक शिक्षा का प्रसार। इस शिक्षा का अभिप्राय किसी सम्प्रदाय या पथ के अमुक ग्रन्थों को रट लेना नही, वरन् धर्म के उन उदार, उदात्त और दिव्य सिद्धान्तो से परिचित और अभ्यस्त होना है, जिनसे व्यक्ति, व्यक्ति न रहकर विशाल विश्व बनता है। उसका 'अहं' संकीर्ण दायरे से बाहर निकलकर भूत-मात्र मे परिव्याप्त हो जाता है। व्यक्ति की सवेदना, करुणा और सहानुभूति चींटी से लेकर कुजर तक फैल जाती है। मनुष्य का दृष्टिकोण निर्मल और श्रेयोगामी बनता है।

इस प्रकार की धर्मशिक्षा मानव को बाल्यकाल से ही मिलनी चाहिए, ताकि विज्ञान का उपयोग करते समय वह हिताहित मे विवेक रख सके, कार्याकार्य की छंटनी कर सके, उसके पास उचित अनुचित के निर्णय की एक अभ्रान्त कसौटी हो और वह अहिंसा को प्रोत्साहन देने वाले पदार्थों के अतिरिक्त प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हिंसावर्द्धक पदार्थों को कतई न अपनाए।

धर्म-शिक्षा विभिन्न मत-पथो मे प्रचलित निष्प्राण रूढियों को समझ लेना नही है। जीवन और उसके वास्तविक ध्येय की पहचान इसी शिक्षा से

होती है। जब यह शिक्षा जीवन में तन्मय हो जाती है तो मनुष्य न केवल मनुष्य को, अपितु प्राणी-मात्र को आत्मभाव से ग्रहण करता है। उसमें सर्वभूतात्मभूता का उदार दृष्टिकोण विकसित हो जाता है। वह दूसरों के सुख-दुःख को अपना ही सुख-दुःख मानता है।

इस प्रकार शिक्षित एवं सुसंस्कृत मनुष्य विज्ञान के प्रयोग या उपयोग के अवसर पर जीवन के इसी सही दृष्टिकोण से देखेगा और नाप-तौल कर हेयोपादेय का विवेक रखेगा, तब उसके लिए विज्ञान संहारक के बदले उद्धारक बन जाएगा।

धर्म शिक्षा से दृष्टि विशाल बन जाने पर मनुष्य प्रत्येक प्रवृत्ति उच्च कोटि के विवेक के प्रकाश में करेगा। वह खाने पीने के समय सोचेगा कि मेरा खान-पान दूसरों को भूखा मारने वाला तो नहीं है? मेरा वैभव किसी को दरिद्र बनाने का कारण तो नहीं है? वह आवश्यक वस्तुओं का ही मर्यादित उपयोग करेगा, अनर्थदंड नहीं करेगा, निरर्थक वस्तुओं के संग्रह से दूर रहेगा।

इसके अतिरिक्त, जिन वस्तुओं के उपयोग से जीवन में अनैतिकता, आलस्य, अकर्मण्यता और विषमता की वृद्धि होती है, ऊँच-नीच की भ्रान्ति को प्रश्रय मिलता है, उन्हें वह न स्पर्श ही करेगा और न उनका उपयोग परिवार को ही करने देगा। इस प्रकार एक परिवार के सुसंस्कारी हो जाने पर धीरे धीरे उसका प्रभाव समाज में फैलेगा।

विज्ञान ने भाँति भाँति के यंत्रों का निर्माण कर मनुष्य को सुखशील बनाते हुए बेकारी को भी उत्तेजन दिया है। धर्म शिक्षा प्राप्त विवेकशील मनुष्य यंत्र के प्रयोग में पूरी मर्यादा बाँध कर चलेगा। जब वह देखेगा कि किसी यंत्र के प्रयोग से बेकारी बढ़ रही है, हजारों की रोजी छीनी जा रही है और इस प्रकार हिंसा को प्रोत्साहन मिल रहा है, तो वह उसका प्रयोग ही क्यों करेगा? साथ ही जिन यंत्रों से मानव में आलस्य और अकर्मण्यता का प्रसार होता हो, सुकुमारता और शैतानी बढ़ती हो, उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं का उपयोग या उपभोग करने में धार्मिक दृष्टि—अहिंसक दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति अवश्य हिचकेगा। वह धर्मनिष्ठा को नहीं छोड़ेगा तथा अपने गरीब भाइयों की आजीविका को छीनने का प्रयत्न नहीं करेगा। समाज में

आज धनिक और निर्धन के बीच जो गहरी खाई विद्यमान है और उसके कारण जो विषमता बढी हुई है, अनैतिकता, खूनखोरी, चोरी आदि पाप बढ़ते जा रहे हैं, सही अर्थ में धर्मनिष्ठ व्यक्ति उन्हें सहन नहीं करेगा।

वह ग्रामोद्योग-निष्पन्न वस्तुओं का उपयोग करेगा, जिससे गरीबों को रोटी-रोजी मिले, वे भूखे न मरे, उनका शोषण न हो, महारंभी (यन्त्रोत्पन्न) वस्तुओं को सस्ती देखकर वह अपने अहिंसक विवेक को ओझल नहीं होने देगा। वह महाहिंसा के द्वार पर नही जायेगा।

आज सही तरीके की धर्म-शिक्षा न मिलने और धर्म पालन में विवेक न होने के कारण प्राय. प्रत्येक धर्म के लोग अहिंसा को स्वीकार करते हुए भी ऐसे पदार्थों का उपयोग करते हैं जो फैशन, विलास, बेकारी और आलस्य बढ़ाने वाले है, सादगी और संयम को नष्ट करने वाले हैं। किन्तु जहाँ मूल में ही अधर्म है, वहाँ धर्म और धर्म के फल की क्या आशा की जा सकती है ?

अतएव यंत्रो से निष्पन्न प्रत्येक वस्तु का उपयोग करने से पूर्व अहिंसा-व्रती को विवेक करना होगा। तभी अहिंसा की शक्ति बढेगी। केवल **'अहिंसा परमो धर्मः'** का नारा लगाने से, अहिंसा भगवती की मूर्ति बनाकर पूज लेने से या अहिंसा के उपदेश की स्तुति अथवा पूजा कर लेने मात्र से अहिंसा की शक्ति नही बढ सकती। शुष्क चर्चा निरर्थक है। अहिंसा शोध-पीठ बनाकर उसकी शोध नही की जा सकती। जीवन व्यवहार के द्वारा ही उसकी प्रतिष्ठा हो सकती है।

इस प्रकार यदि समाज के विभिन्न क्षेत्रों मे हो रही महाहिंसा की रोक-थाम की गई और नवीन-नवीन अहिंसा के प्रयोग जारी रखे गये तो अहिंसा की शक्ति बढ़ेगी, इसमे कोई संदेह नहीं। अहिंसा की शक्ति बढ़ने पर ही मानव जाति की संजीवनी शक्ति बढ़ेगी।

चौंतीस

सामूहिक अहिंसा के अभिनव प्रयोग

प्राचीन काल में कुछ अपवादों को छोड़कर, अहिंसा के प्रयोग प्राय व्यक्तिगत हुए हैं किन्तु महात्मा गांधी ने, भगवान महावीर, महात्मा बुद्ध और ईसा मसीह आदि महापुरुषों द्वारा प्रतिपादित अहिंसा का मंथन करके अनेक सामूहिक प्रयोग कर बताये थे। अतएव आज अहिंसा के सामूहिक प्रयोग कठिन नहीं हैं।

विज्ञान आज बड़ी तेजी से छलांगें मार रहा है और इस कारण विश्व अत्यन्त छोटा बन गया है। वैज्ञानिक सुविधाओं के कारण आज एक देश का मानव दूसरे देश के मानव से अधिक दूर नहीं मालूम होता। अतएव अहिंसा की गति भी तीव्र करनी होगी।

निष्ठापूर्वक सामूहिक प्रयोग ही अहिंसा की गति में तीव्रता ला सकते हैं और उसे अधिक क्षमतावान् बना सकते हैं।

प्राचीन काल में तीव्र वेगी वैज्ञानिक साधन न होने से एक देश से दूसरे देश तक संवाद पहुँचाने में महीना लग जाते थे, वर्ष भी व्यतीत हो जाते थे। अतएव एक देश की घटना का प्रभाव दूसरे देश पर नगण्य-सा होता था। परन्तु आज यह बात नहीं रही। आज एक देश की गतिविधि का प्रभाव दूसरे देशों पर तत्काल पड़ता है। हिंसक प्रभाव उत्पन्न करने वाली घटनाएँ बड़ी तेजी से फैलती हैं। अहिंसा की गति वेगवान न होने से उसका प्रभाव बहुत कम होता है। अतएव यह अत्यावश्यक है कि अहिंसा की गति को बढ़ाया जाय और उसका उपाय है—सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अहिंसा का अधिक से अधिक प्रयोग करना। किसी भी समाज या राष्ट्र में परिवर्तन लाने के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है। हृदय-परिवर्तन, विचार-परिवर्तन और परिस्थिति-परिवर्तन।

आज के विज्ञान से प्रभावित समाज में परिवर्तन लाने के लिए तथा

समाज की अर्थ-प्रधान और भौतिक दृष्टि बदलने के लिए हमे अहिंसा का ही सहारा लेना पड़ेगा। मार-काट, बलात्कार, दड या अत्यधिक दवाव द्वारा समाज में परिवर्तन का क्षणिक आभास हो सकता है, परन्तु वास्तविक या स्थायी परिवर्तन नही आता। समाज मे स्थायी परिवर्तन लाने के लिए हमे अहिंसा के माध्यम से उपर्युक्त त्रिपुटी को अपनाना होगा। विचार-क्रान्ति द्वारा पहले व्यक्ति के हृदय मे परिवर्तन होगा, शनैः-शनैः व्यापक रूप से उन विचारो के फैल जाने पर समाज का विचार-परिवर्तन होगा। फिर भी सारा समाज उन विचारो के अनुसार व्यवहार नही करने लगेगा। उसके लिए परिस्थिति मे परिवर्तन लाना आवश्यक होगा।

परिस्थिति-परिवर्तन के लिए अहिंसा के दो प्रकार के प्रयोग करने होगे—प्रतिकारात्मक और विधेयात्मक। इन दोनों प्रकार के प्रयोगों मे अहिंसा भगवती के दोनो चरणो—सयम और तप का उपयोग होगा। तभी परिस्थिति मे परिवर्तन होगा और अन्त मे सरकारी कानून भी उस पर अपनी मुहर लगाने आजाएगा। एक उदाहरण से हमारा भाव स्पष्ट हो सकेगा।

मान लीजिए, किसी गाँव मे 20 बुनकर परिवार है। वे बुनाई का धन्धा करते है। परन्तु मिल का कपड़ा गाँव मे फैल जाने से उनका व्यवसाय ठप हो गया है। वे बेकार और वेरोजगार हो रहे है। ऐसी स्थिति मे ग्राम के अहिंसा प्रेमी विचारक ग्रामवासियो को अपने अहिंसा सम्बन्धी विचार समझाएँगे। कहेंगे मिल के बने वस्त्र खरीदकर गाँव के लोगो को भूखा मारना हिंसा है। अहिंसा इसी मे है कि आप बुनकर भाइयो के हाथ के बने वस्त्र ही खरीदें, फिर भले ही वे महँगे ही क्यो न हो।

यह विचार उनके गले तक तो उतर जाएगा परन्तु आर्थिक पहलू और सामाजिक प्रतिष्ठा उनमें से वहुतो को तदनुसार व्यवहार करने से रोकेगी। किन्तु जिनका हृदय परिवर्तन हो चुका है और जो अहिंसा के महत्त्व को समझ चुके है वे निष्क्रिय होकर नही बैठेंगे। वे ग्राम सभा मे अपने विचार प्रस्तुत करेंगे। सभा इस वात को स्वीकार करेगी और उसकी स्वीकृति नियम का रूप धारण कर लेगी। अगर कोई उस नियम को भी चुनौती देगा और प्रेमपूर्वक समझाने पर भी नहीं मानेगा तो अहिंसक शुद्धिप्रयोग

किया जाएगा। इससे उस भाई का भी हृदय परिवर्तन हो जाएगा और वह सही रास्ते पर आ जाएगा। इस प्रकार एक गाँव मे परिस्थिति परिवर्तन होने पर कई गाँवो पर उसका असर होगा और अन्तत सम्पूर्ण प्रदेश की फिजाँ ही बदल जाएगी।

इस पद्धति से सारे समाज और राष्ट्र मे, यहा तक कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी परिस्थिति-परिवर्तन लाया जा सकता है।

घर मे थोडी खटपट होती है तो क्या उसके निपटारे के लिए न्यायालय की शरण ली जाती है? परिवार के गुत्थियाँ डण्डो से नही सुलझाई जाती और न बात-बात मे अदालत के द्वार खटखटाये जाते हैं। तो जिस प्रकार परिवार की उलझनो को सुलझाने के लिए अहिंसात्मक प्रयोग किये जाते हैं, वस ही ग्राम, नगर, प्रान्त और राष्ट्र, समाज एव विश्व की समस्याओ के समाधान के लिए भी किया जा सकता है।

आज अन्तर्राष्ट्रीय विवाद तक सुलझाने मे अहिंसक प्रयोग सफल हो गया है। सयुक्त राष्ट्र सघ इसका जीता जागता प्रमाण है, जिसने कई विवाद आपसी समझौते से निपटाये हैं।

अतएव विवाद, सघर्ष, कलह और कोई भी समस्या सुलझाने के लिए सर्व प्रथम कदम है—समझाना, बुझाना, पास बठकर वार्तालाप करना। इस प्रकार पारस्परिक समझौता हो जाने से दो बड लाभ होते हैं। प्रथम, यह कि विवाद की परम्परा आगे नही बढती, जिससे मानसिक हिंसा से बचाव हो जाता है, दोनो पक्षो मे आन्तरिक शान्ति हो जाती है। दूसरे, मुकदमे बाजी म होनेवाली हैरानी, परेशानी और फिजूल खर्ची से मनुष्य बच जाता है।

इससे आगे का कदम है—मध्यस्थ या पच का निर्वाचन। अगर पारस्परिक वार्तालाप और समझौते से मामला न सुलझना हो तो निष्पक्ष और सदाशय पचो की नियुक्ति की जानी चाहिए और उनका निर्णय दोनो पक्षो को मान्य होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच, व्यक्ति और समाज के बीच इसी प्रकार राष्ट्र राष्ट्र के बीच किसी भी विषय म कोई भी कलह, विवाद या सघर्ष उपस्थित होने पर अहिंसात्मक प्रयोगो से लाभ उठाना चाहिए।

लेकिन यह विश्वास करने का कोई कारण नही है कि प्रत्येक पक्ष सदा सर्वदा पचनिर्णय को स्वीकार कर ही लेगा। जब ऐसी स्थिति सामने आए तो पचनिर्णय से आगे का कदम उठाना होगा और वह होगा सत्याग्रह-प्रयोग और शुद्धि प्रयोग।

जब किसी विचार धारा का सामूहिक रूप मे प्रचार करके उसे क्रियान्वित कराना होता है अथवा किसी पर अन्याय-अत्याचार करके कोई व्यक्ति मध्यस्थ के निर्णय को स्वीकार करने को तैयार नही होता है, तब अहिंसक शुद्धि प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। अहिंसक शुद्धि-प्रयोग की अनिवार्य शर्त यह है कि दोषी व्यक्ति के प्रति किसी प्रकार का द्वेष, क्रोध या उसे नीचे दिखाने का आशय न हो। केवल उसकी आत्मा पर आये हुए स्वार्थ के आवरणो को दूर करने के पुनीत हेतु से, उसके हृदय को निर्मल बनाने के लिए, उसकी अन्तरात्मा के साथ अपनी आत्मा का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए और इस प्रकार उसके विवेक को जागृत करने की पवित्र और शुद्ध भावना से 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की दृष्टि से स्वय, तप, त्याग, करना चाहिए। वातावरण को जगाने के लिए सहायक उपवासियो के द्वारा भी उपवास किया जाता है तथा प्रार्थना, धुन, प्रवचन, प्रभातफेरी आदि उपायो द्वारा भी समाज का ध्यान उक्त विचारधारा या वस्तु की ओर केन्द्रित किया जाता है। समाज के बहुभाग जनो की सहानुभूति उस विचार के पक्ष मे जागृत करनी होती है, तब दोषी व्यक्ति, समूह या समाज का हृदय हिल उठता है। उसके हृदय मे न्याय सगत विचार उत्पन्न होता है, उसका विवेक अगडाई लेता है और वह न्याय्य पथ पर आ जाता है।

गाधी युगीन विज्ञों ने सत्याग्रह के चार विभाग किये हैं—(१) सविनय असहयोग, (२) सविनय कानून भग, (३) पिकैटिग और (४) वैयक्तिक उपवास। गाधीजी ने ब्रिटिश शासन काल मे सत्याग्रह-का कई बार प्रयोग किया और सफलता भी प्राप्त की। उस समय विदेशी राज्य था और कानून के निर्माण मे जनता की सम्मति नही ली जाती थी। इस कारण कानून-भंग भी न्यायसगत था, लेकिन आज भारत मे लोकतत्रीय राज्य है और प्रजा के बहुमत के आधार पर कानून बनाये जाते है, अतएव अब सत्याग्रह में कानून भग को स्थान नही दिया जा सकता।

पिकेटिंग भी अहिंसक और सौम्य होना चाहिए। तोड फोड, मारपीट, या गाली गलौज आदि हिंसापूर्ण कार्यवाहियां शैतानी पद्धतियां हैं। सत्याग्रह या शुद्धि प्रयोग मे इसके लिए कोई अवकाश नहीं है। इसी प्रकार द्वेषवश किसी को काले झंडे दिखलाना, अपमानित करना या हिंसोत्तेजक अन्य प्रवृत्ति करना सत्याग्रह की आत्मा का हनन करना है।

आधुनिक युग मे शस्त्रास्त्र बहुत बढ गये हैं। विज्ञान नये नये तेज और संहारक शस्त्र निर्माण कर रहा है। अतएव जब किसी राष्ट्र मे, नगर में या प्रान्त मे या किसी विशेष को लेकर संघर्ष होता है तो वह दंगे का रूप ले लेता है। लोग तुरन्त शस्त्रो से आक्रमण करने पर उतारू हो जाते हैं। अहिंसक समाज रचना के लिए यह ठीक नही। ऐसे समय मे नागरिकों मे उत्तेजना फैल जाती है और वे शान्ति के लिए पुलिस की सहायता लेते हैं। पुलिस आती है और भीड को बेकाबू देखती है तो लाठी, गोली, अश्रुगैस, बंदूक आदि का प्रयोग करती है। ऐसे अवसर पर अहिंसक लोगों का कर्तव्य है कि वे शान्ति सैनिक बनकर, निर्भयतापूर्वक, अहिंसक ढंग से, हृदय की सद्भावना को ही सबल शस्त्र बनाकर दंगाइयों को प्रेम से समझावें और शान्त करें। अगर दो विरोधी पक्षो मे से कोई पक्ष उन पर आक्रमण करता है, मार पीट करता है, लाठी का प्रहार करता है या अन्य कोई हिंसापूर्ण हरकत करता है तो शान्ति से सहन करें। कदाचित प्रेमपूर्वक समझाते-समझाते प्राणो पर आ बनें तो सहर्ष प्राण देने मे भी संकोच न करें।

ऐसे अहिंसावीर मर कर भी अमर हो जाते हैं। उनकी अहिंसा का प्रभाव दंगाइयों के हृदय का बदल देता है और उनकी बलि कभी निष्फल नहीं जाती। पर ऐसे शान्ति सैनिकों की सेना व्यवस्थित रूप में तालीम पाई हुई पहले से ही तैयार होनी चाहिए, तभी वह ऐन मौके पर अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त कर सकती है। आचार्य विनोबा जी और श्री सन्त बालजी ने इस प्रकार की शान्ति सेना तैयार की है जो अनेक प्रसंगों पर सफल हुई है। इस सेना का प्रयोग सभी प्रकार के दंगों के अवसर पर किया जा सकता है।

सामान्य दंगों का इस प्रकार अहिंसक प्रतिकार किया जा सकता है,

किन्तु बड़े-बड़े युद्धो का, जिनमे करोड़ों की जान जाती है, लाखों बीमार और अपाहिज हो जाते हैं, धन-सम्पत्ति की अपार क्षति होती है, किस प्रकार प्रतिकार किया जा सकता हे ? यह एक विकट समस्या है। परन्तु यह निश्चय है कि हिंसा की अपेक्षा अहिंसा अधिक क्षमताशालिनी है। अतएव उग्र से उग्र और प्रचण्ड से प्रचण्ड हिसा का भी अहिंसा से मुकावला किया जा सकता है। पर यह ध्यान रखना होगा कि औषध रोग के मुकावले अधिक उग्र हो। अगर विश्व के प्रत्येक राष्ट्र मे निष्ठावान् शांति-सैनिक पर्याप्त संख्या मे फैले होगे तो वे महायुद्धो पर भी विजय प्राप्त कर सकेंगे। उनके शांति प्रयास ऐसे युद्धो की भूमिका ही निर्मित न होने देगे। इसके लिए वे बड़े से वडा कष्ट झेलने को तत्पर होगे और जव यह होगा तभी समग्र विश्व मे अहिंसा की विजय वैजयन्ती फहराएगी। अहिंसा के भक्त ऐसे नाजुक प्रसंग पर सोते रहे तो अहिसा की शक्ति कैसे चमकेगी ?

हिन्दुस्तान मे हुई शांति परिषद् मे हेनरी चक्रसंचुटजी नामक एक जर्मन प्रतिनिधि भी आया था। वह युद्ध का प्रवल विरोधी था और इसी कारण उसे अनेक मुसीवते झेलनी पड़ी। सन् 1922 मे उसे इसा अपराध मे 30 वर्ष की सजा हुई, मगर किसी कारण वह वीच मे ही सन् 1945 में छोड दिया गया। इस प्रकार अहिसा सिद्धान्त के लिए वह सभी कष्ट झेलता रहा।

ईसाइयो में क्वेकर नामक सम्प्रदाय के अनुयायी वडे शांतिवादी होते है। वे अहिंसा मे गहरी आस्था रखते है और शाकाहारी होते है। सन् 1940 में जव जापान और रूस के वीच संग्राम छिड़ा तो उन्हे सेना मे भर्ती होने को विवश किया गया किन्तु नरसंहारक युद्ध उनके सिद्धान्त के विरुद्ध था। उन्होने साफ इन्कार कर दिया। कई लोगो को मृत्यु-दड भोगना पड़ा। कहते है, उनमे से कुछ लोग टाल्स्टाय की सहायता से अमेरिका मे जा वसे और वहाँ खेती करके निर्वाह करने लगे, लेकिन अपने सिद्धान्त से विचलित न हुए। अगर अहिसा पालन के लिए सभी राष्ट्रो मे इस प्रकार तपस्या करने की क्षमता आ जाए तो युद्धो का निवारण करना क्या कठिन वात है ?

अणु-अस्त्र प्रयोग और परीक्षण के विरुद्ध भी सक्रिय अहिंसात्मक प्रतिकार किया जा सकता है। मगर इस प्रकार के प्रतिकार के लिए संगठित

प्रयत्न होना चाहिए। अन्य देशों का लोकमत भी तैयार करना चाहिए। अहिंसा के पक्ष में सघन वातावरण का निर्माण होना चाहिए। ऐसा होने पर अवश्य ही अहिंसा हिंसा पर विजय प्राप्त कर सकेगी।